रणेन्द्र के साहित्य में आदिवासी जीवन का यथार्थ

RANENDRA KE SAHITYA MEIN AADIWASI JIWAN KA YATHARTH

(REALITY OF TRIBAL'S LIFE AS REFELECTED IN THE LITERATURE OF RANENDRA)

(एम.फिल. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघुशोध-प्रबंध)

शोध-निर्देशक

प्रो. ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी

सोनम मौर्या

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली –110067

2014

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Languages, Literature and Cultural Studies
New Delhi-110067, India

Dated: 21/07/2014

DECLARATION

I hereby Declare that the research work done in this M.Phil Dissertation entitled **"RANENDRA KE SAHITYA MEIN AADIWASI JIWAN KA YATHARTH" (REALITY OF TRIBAL'S LIFE AS REFLECTED IN THE LITERATURE OF RANENDRA)** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Sonam Maurya
Sonam Maurya
(Research Scholar)

21/7/14
PROF. OMPRAKASH SINGH
(Supervisor)
CIL/ SLL & CS/ JNU

PROF. RAMBUX JAT
(Chairperson)
CIL/ SLL & CS/ JNU

समर्पण

स्नेहमयी माँ जी...

(जिनके स्नेह ने मेरे मन में हाशिये के लोगों के प्रति संवेदना जागृत की)

तथा संघर्षशील पिता जी को...

(जिनके संघर्ष ने मुझे देश के मेहनतकश लोगों के हक, अधिकार के संघर्ष की लड़ाई को समझने, जानने की दृष्टि दी)

भूमिका

साहित्यकार रणेन्द्र से मेरा जुड़ाव जे.एन.यू में स्नातक करने के दौरान ही उनकी प्रसिद्ध कृति 'ग्लोबल गाँव के देवता' के जरिये हुआ। तब पढ़ते समय मैंने यह नहीं सोचा था कि आगे चलकर उनका साहित्य मेरे शोध का विषय बनेगा। हालांकि उनके उपन्यास को पढ़ने के कुछ दिन बाद तक मेरा मन-मस्तिष्क उसके प्रभाव से बाहर नहीं जा पाया। उपन्यास के एक-एक घटना-दृश्य की अमिट छाप मेरे मानस पटल पर छपी रही। रणेन्द्र का साहित्य है ही ऐसा कि उससे गुजरने के बाद उसके प्रभाव से कोई बच नहीं सकता। रणेन्द्र कृत साहित्य में 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास के अतिरिक्त 'रात बाकी एवं अन्य कहानियां' कहानी संग्रह और 'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ' कविता संग्रह आदि हैं। रणेन्द्र कृत 'ग्लोबल गाँव के देवता' एक (100 पृष्ठों का) लघु उपन्यास है। जो झारखंड की आठ आदिम जनजातियों में से एक 'असुर' जनजाति पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में 'असुर' समुदाय के जीवन, उनके इतिहास, उनकी समस्याओं और उनके द्वारा किये गये प्रशासन व पूँजीपतियों, दलालों, महाजनों, सूदखोरों के प्रति संघर्ष की महागाथा को यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'रात बाकी एवं अन्य कहानियां' कहानी संग्रह में कुल सात कहानियां हैं, जिनमें से तीन कहानियां झारखंड की जनजातियों में से तीन 'चेरो', 'उराँव' और 'खड़िया' जनजातियों को आधार बनाकर लिखी गयी हैं। इसमें उनके जीवन, उनकी समस्याओं, सामंती व्यवस्था, दलालों के प्रति प्रशासन की पक्षधरता तथा उसके प्रति उनके संघर्ष का चित्रण किया है। 'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ' कविता संग्रह में कुल 33 कविताएं हैं, जिनमें से कुछ ही कविताएं झारखंड की आठ आदिम जनजातियों में से दो 'बिरहोर' और 'बिरजिया' जनजाति के जीवन, उनकी समस्याओं पर केन्द्रित हैं। उनके साहित्य में अभिव्यक्त आदिवासी संघर्ष अपने पक्ष में खड़े होने को ललकारता है। इसी कारण से मेरे मन में उनके साहित्य पर शोध करने की जिज्ञासा पैदा हुई।

एम.फिल. हेतु शोध-विषय चयन के दौरान जब मैं अपने शोध-निर्देशक गुरू **प्रो. ओमप्रकाश सिंह** जी से रणेन्द्र पर शोध-कार्य करने की इच्छा जाहिर की तो उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दे दी। इसके साथ ही कुछ देर विचार-विमर्श करने के पश्चात अन्तत: **'रणेन्द्र के साहित्य में आदिवासी जीवन का यथार्थ'** लघु शोध-प्रबंध का शीर्षक तय हुआ। इसके बाद शोध के दौरान उन्होंन प्रत्येक अध्याय को बड़ी सूक्ष्मता से निरीक्षण कर शोध-प्रबंध को प्रामाणिक व तार्किक बनाने हेतु अमूल्य सुझाव दिए। उनके संबंध में मुझे एक बात बहुत रुचिकर लगी। वह यह कि अपने शोधार्थियों के प्रति वे बहुत उदारपूर्ण भाव रखते हैं। वे शोधार्थी को अपने बुद्धि-विवेक से सोचने व काम करने की पूरी आजादी देते हैं। वे अपने विचार कभी भी उनके ऊपर थोपने की कोशिश नहीं करते हैं। उनकी इस उदारता के कारण मुझे पूरी आजादी मिली जो मेरे शोध कार्य में सहायक सिद्ध हुई।

इस शोध के अन्तर्गत रणेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त झारखंड की जनजातियों की जीवन-शैली और उनकी समस्याओं के यथार्थ का अध्ययन किया गया है। मेरे लघु शोध-प्रबंध की रूप-रेखा उपसंहार को छोड़कर तीन अध्यायों में विभक्त है। **'प्रथम अध्याय : रणेन्द्र और उनका रचना संसार'** है। इसमें रणेन्द्र का जीवन परिचय, उनकी साहित्यिक रचनाओं की प्रेरणाएं, आदिवासी साहित्य में उनकी साहित्यिक रचनाएं तथा उनकी साहित्यिक यात्रा का मूल्यांकन किया गया है। या फिर यों कहें कि उनका पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा साहित्यिक जीवन और आदिवासी साहित्य में उनकी रचनाओं के स्थान का अध्ययन एवं मूल्यांकन किया गया है। **'द्वितीय अध्याय : आदिवासी जीवन का स्वरूप और समस्याएं'** है। इस अध्याय में भारत के आदिवासी जीवन के विविध आयाम और उनकी समस्याओं की भिन्नता तथा समानता का अध्ययन किया गया है। इसके साथ ही रणेन्द्र के साहित्य में आये पात्रों के रूप में आदिवासी जनजातियों के जीवन में भिन्नता, समानता तथा उनकी समस्याओं में भिन्नता, समानता का विस्तार एवं गहराई से अध्ययन कर उसका विश्लेषण किया गया है। **'तृतीय अध्याय : रणेन्द्र के साहित्य में आदिवासी जीवन का यथार्थ एवं समस्याएं'** है। इस अध्याय के अन्तर्गत रणेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन, उनके रहन-सहन, उनके संबंधों, उनकी सभ्यता-संस्कृति, उनकी समस्याओं, उनका प्रशासन, दलालों, महाजनों, सूदखोरों द्वारा शोषण, स्त्रियों का शोषण आदि को यथार्थ की कसौटी पर कस कर और जाँच-पड़ताल करके अध्ययन किया गया है। इसके पश्चात उसका मूल्यांकन किया गया है। **'उपसंहार'** मेरे लघु शोध-प्रबंध का निष्कर्ष रूप है। मेरा यह लघु शोध-प्रबंध आदिवासी जीवन के हक, अधिकार के संघर्ष की लड़ाई के प्रति लोगों के अन्दर संवेदना और चेतना जगाने की एक कोशिश मात्र भर है।

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध हेतु सर्वप्रथम मैं अपने शोध-निर्देशक **प्रो. ओम प्रकाश सिंह** के प्रति हृदय से श्रद्धावनत हूँ जिनके सहयोग, दिशा-निर्देशन एवं अमूल्य सुझाव के बिना इस कार्य का न तो प्रारम्भ संभव था न पूर्ण होना। अपनी अकादमिक गतिविधियों की व्यस्ततम दिनचर्या में से इस शोध के निमित्त गुरूवर द्वारा दिया गया कीमती समय वस्तुत: मेरे लिए सहायक रहा। इस शोध के निमित्त साहित्य अकादमी, त्रिमूर्ति पुस्तकालय, दिल्ली पब्लिक पुस्तकालय, दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय तथा जे.एन.यू. के पुस्तकालय और जनगणना कार्यालय के कर्मचारियों द्वारा तथ्यों को जुटाने में सतत् सहयोग के लिए आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य मानती हूँ। शोध अवधि के दौरान रणेन्द्र ने भी मेरा मार्ग-दर्शन किया। मैं उनकी बहुत आभारी हूँ। इस शोध के दौरान सीनियर मुलायम और अवधेश का साथ एक बुनियाद की तरह रहा जिन्होंने इस प्रबंध का प्रूफ देखा और त्रुटिहीन बनाया। इसके साथ ही ए.आई.एस.एफ. के सभी साथियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने न सिर्फ इस नारे (स्टडी एण्ड स्ट्रगल) को जीवन में बरतने के लिए प्रोत्साहित किया बल्कि मेरे इस शोध-प्रबंध में भी सहयोग दिया। इस प्रबंध हेतु मैं अपने सहपाठी (रेणु, आकृति, सुशील, शिव, जैनेन्द्र, अशोक और धीरू) की बहुत आभारी हूँ जिन्होंने मेरे साथ विचार-विमर्श करके हमेशा नया सुझाव दिया। इस शोध कार्य के दौरान ही मेरी छोटी बहन शुचि ने उत्साहपूर्ण

ऊर्जा का काम किया और साथ में मेरा बहुत ख्याल रखा। उसके बिना शायद मैं इतना मन लगाकर काम नहीं कर पाती। इसी बीच मेरे दोनों बड़े भाई नगेन्द्र और राहुल ने मेरा बहुत उत्साह बढ़ाया। नगेन्द्र भइय्या ने बड़े भाई होने के नाते मेरे लघु शोध-प्रबंध हेतु हमेशा सही सलाह दी, तो राहुल भइय्या ने हमेशा मुझे कठिनाइयों के पथ पर संघर्ष करते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। सबसे महत्वपूर्ण आभार व्यक्त करना चाहुँगी अपनी सबसे प्यारी व छोटी बाबू (काव्या) को, उसकी निश्छल हंसी, उसकी शरारतें, उसकी तोतली बोली और उसके प्यारी करने के अंदाज को, जो मेरे हर कार्य को उल्लास से भर देता। अंत में ममतामयी, प्रेरणादायी माँ और परिश्रमी, संघर्षशील पिता जी की मैं आजन्म ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे आज इस योग्य बनाया। अन्यथा शोध-प्रबन्ध लेखन जैसे कार्य और शब्द से मैं अनभिज्ञ होती। उनके योगदान को व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं, सारे शब्द हल्के व सतही प्रतीत हो रहे हैं।

सोनम मौर्या

जुलाई 07, 2014

अनुक्रम

भूमिका i-iii

प्रथम अध्याय : रणेन्द्र और उनका रचना संसार 1-33

(1) जीवन परिचय

(2) आदिवासी साहित्य और रणेन्द्र का रचना संसार

द्वितीय अध्याय : आदिवासी जीवन का स्वरूप और समस्याएं 34-76

(1) आदिवासी जीवन के विविध आयाम

(2) आदिवासी जीवन की समस्याएं

तृतीय अध्याय : रणेन्द्र के साहित्य में आदिवासी जीवन का यथार्थ एवं समस्याएं 77-110

(1) उपन्यास

(2) कहानियां

(3) कविताएं

उपसंहार 111-115

संदर्भ-ग्रंथ-सूची 116-119

परिशिष्ट 120-126

प्रथम अध्याय

रणेन्द्र और उनका रचना संसार

(1) जीवन परिचय

(2) आदिवासी साहित्य और रणेन्द्र का रचना संसार

रणेन्द्र का आन्तरिक लगाव हाशिये के समाज के प्रति रहा है । रणेन्द्र हाशिये के असहाय लोगों के अन्याय, अत्याचार, शोषण के प्रति अपनी आवाज बुलन्द करने वालों में से हैं। उनका साहित्य संसार भले ही वृहत न हो फिर भी उनके साहित्य में हाशिये के समाज के जीवन, संघर्ष और उनकी समस्याओं को व्यापक स्तर पर समेटने की कोशिश की गई है।

जीवन परिचय

रणेन्द्र का जन्म बिहार राज्य में स्थित नालंदा जिले के सोहसराय नामक कस्बे में एक शिक्षित परिवार में 10 फरवरी सन् 1960 ई. को हुआ था। उनके पिता का नाम **डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद** तथा माता का नाम **श्रीमती उर्मिला प्रसाद** है। उनके पिता नालंदा जिले के सोहसराय कस्बे के 'किसान कॉलेज' में 1957 ई. से हिंदी के अध्यापक रहे और बाद में विभागाध्यक्ष भी बने। उन्होंने लगभग एक दर्जन उपन्यास लिखे हैं, उनमें से प्रमुख उपन्यास **'सिन्धियों के खंडहर'** और **'कश्मीर की बेटी'** हैं। इसके साथ ही उन्होंने कबीर के जीवन पर केन्द्रित उपन्यास **'सुनो भाई साधो'** लिखा जो अत्यन्त ही चर्चित रहा है। उनकी माता भी एम.ए. तक पढ़ी थीं।

साहित्यकार के जीवन का परिवेश उसकी सृजनात्मकता में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। परिवेश की भूमिका के संबन्ध में **रमेशचन्द्र शाह** ने लिखा है – ''हर कथाकार का अपना एक संसार, एक निजी मानसिक परिवेश होता है जो कि उसके अतीत से ताल्लुक रखता है और चेतना-प्रवाह में जिसके जीवित स्पंदन की सुलभता, उसे कथा-रचना में प्रवृत्त करने वाले कारणों में से एक हो सकती है। यह कहना की कोई रचनाकार संस्कार के स्तर पर अपने एक खास निजी परिवेश में स्थापित है, एक प्रकार से देखा जाए तो यह कहने के बराबर है कि उसकी संवेदना भी एक खास मायने में महत्वपूर्ण है।''[1] रणेन्द्र बचपन से ही रचनात्मक, सृजनात्मक परिवेश में पले-बढ़े हैं। उनके ऊपर लेखक पिता और माता की एम.ए. तक की पढ़ाई का गहरा असर दिखाई देता है।

रणेन्द्र के मुहल्ले में अधिकांशत: श्रमजीवी रहते थे जैसे – बीड़ी मजदूर, ट्रक ड्राइवर, मछली-सब्जी बेचने वाले, दुकानों में काम करने वाले आदि। इन्हीं 'घरों में इनके बचपन के दोस्त' रहते थे। इनके साथ उन्होंने हाईस्कूल व कॉलेज तक की पढ़ाई अपने पिता के ही 'किसान कॉलेज' से पूरी की। उन्होंने हाईस्कूल के दौरान ही सन् 1974 ई. में बिहार के **'जे.पी. आन्दोलन'** से प्रभावित होकर उसमें बढ़चढ़ कर हिस्सा लिया। परिणामस्वरूप उनको जेल भी जाना पड़ा। आगे चलकर 'नालंदा विश्वविद्यालय' से पिता जी के कहने पर न चाहते हुए भी बी.एस.सी. की पढ़ाई पूरी की। चूँकि उनकी रुचि साहित्य व सामाजिक विषयों की ओर अधिक थी जिसके परिणामस्वरूप उनका मन साइन्स विषयों में रमता नहीं था। इसलिए आगे

चलकर रणेन्द्र ने पी.सी.एस. की परीक्षा दी और चयन हो जाने के बाद राज्य प्रशासनिक सेवा में कार्यरत हो गए।

रणेन्द्र ने समय-समय पर भारत सरकार की कई परियोजनाओं पर कार्य करके अपनी सेवा भावना का परिचय दिया है। सन् 1988 ई. में रणेन्द्र राज्य प्रशासनिक सेवा में चयनित किए गए। इसके बाद सन् 1992 ई. से वे झारखण्ड में विभिन्न पदों पर रहे। साहित्यकार को अनेक आदिवासी समुदायों के बीच रहने, उनके साथ घुलने-मिलने, उनके सुख-दु:ख में भागीदार होने एवं उनकी विशिष्ट संस्कृति पर पड़ रहे प्रभावों को समझने-सीखने का मौका मिला। लेखक रणेन्द्र आदिवासी संस्कृति-समाज पर वैश्वीकृत अर्थव्यवस्था के प्रभावों को जानने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी की तरह अध्ययन करते रहे।

साहित्यिक परिचय

रणेन्द्र के साहित्य-सृजन की प्रेरणा के पीछे उनका पारिवारिक परिवेश आधिक सहायक रहा। उनके पिता स्वयं एक साहित्यकार थे और विभिन्न साहित्यिक गोष्ठियों में उनके साथ रणेन्द्र भी अक्सर आया-जाया करते थे। उनके साहित्यिक मानस-बोध को पुष्ट करने में यह वातावरण अधिक सहायक रहा। कॉलेज के दिनों से ही उन्होंने कविताएं लिखना शुरू कर दिया था। आगे चलकर महाश्वेता देवी, अरुन्धती राय, संजीव आदि रचनाकारों की रचनाओं से प्रभावित होकर रणेन्द्र आदिवासी साहित्य-लेखन की तरफ उन्मुख हुए। इसके अलावा और कई रचनाकारों की रचनाओं से भी उनको साहित्य-सृजन करने में मदद मिली है। रणेन्द्र को **डॉ.बी. वीरोत्तम की** पुस्तक **'झारखण्ड : इतिहास एवं संस्कृति'** एवं **'रांची जिला गजेटियर'** से मुंडाओं को आगमन के पूर्व छोटानागपुर में असुर सभ्यता को समझने में मदद मिली।

वर्ष 1999-2004 तक प्रतिनियुक्ति पर रणेन्द्र भारत सरकार के खादी-ग्रामोद्योग आयोग के झारखण्ड राज्य कार्यालय के प्रभारी पदाधिकारी हुए। इस कार्यावधि ने उनको पूरे झारखण्ड में घूमने-समझने और इसकी विविधता के अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस पाँच साल की अवधि में **'झारखण्ड एन्साइक्लोपीडिया' (Jharkhand Encyclopedia)** के चार खण्डों की नींव डाली।

रणेन्द्र के प्रभारी पदाधिकारी के वर्ष 1999-2004 तक का समय साहित्यिक सक्रियता का भी समय रहा। प्रसिद्ध समालोचक डॉ. खगेन्द्र ठाकुर, के निर्देशन में उन्होंने मित्रों के साथ एक साहित्यिक पत्रिका **'कांची'** का सम्पादन प्रारम्भ किया। इस पत्रिका के पाँच-छ: अंक ही प्रकाशित हो पाए।

साहित्यकार रणेन्द्र ने झारखण्ड का लोकप्रिय दैनिक समाचार-पत्र **'प्रभात खबर'** के साहित्यिक पृष्ठ की जिम्मेदारी एक-डेढ़ वर्ष तक संभाली। कुछ अंतराल के बाद दैनिक समाचार-पत्र **'हिन्दुस्तान'** के साप्ताहिक साहित्यिक पृष्ठ की जिम्मेदारी भी उन्होंने साल-डेढ़ साल तक निभाई। इस बीच वे

कविताएं लगातार लिखते रहे। रणेन्द्र की कविताएं – **वागार्थ', 'नया ज्ञानोदय', 'हंस' तथा 'कथादेश'** आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। उनके सामाजिक-आर्थिक आलेख (राजन डोम) छद्मनाम से स्थापित समाचार-पत्रों में निरंतर प्रकाशित होते रहे हैं।

रणेन्द्र की **'रात बाकी'** कहानी को कथादेश की अखिल भारतीय प्रतियोगिता वर्ष 2005 में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रतियोगिता में प्रथम आने के बाद वे **'कथा लेखन'** में गंभीरता से सक्रिय हुए हैं। **'प्रगतिशील लेखक संघ'** की झारखण्ड राज्य की इकाई में लगभग एक दशक से अधिक समय तक की सक्रियता से उनके लेखन को और पैनी धार मिली।

'नया ज्ञानोदय' में प्रकाशित होने वाले भगवान सिंह के धारावाहिक आलेखों ने अंगिरस-अंगिरा-अगिरिया-असुर के संबन्धों को स्पष्ट किया। कुमार सुरेश सिंह के संपादन में प्रकाशित पुस्तक **'ट्राइबल मुवमेंट्स इन इण्डिया' (Tribal Movement in India)** तथा **'अन्यथा'** के जुलाई 2006 के **'रेड इंडियन्स'** पर केन्द्रित अंक एवं 'नेशनल ज्योग्राफिक सोसाइटी' की पुस्तक **'द वर्ल्ड आफ द अमेरिकन इंडिया' (The world of the American India)** ने आपकी रचनाओं को बृहत् आयाम दिया।

साहित्यकार रणेन्द्र की **'राज्य प्रशासन सेवा'** में नियुक्ति होने के बाद रोहतास जिला के चेनार अंचल में, चेरो जनजाति की दुर्गावती जलाशय परियोजना के कारण विस्थापित होने की प्रक्रिया को बहुत ही नजदीक से देखने-समझने का अवसर प्राप्त हुआ। रोहतास जिले की सामंती-सवर्णवादी मानसिकता, दलितों के प्रति अत्यंत तीव्र घृणा-भाव और उपेक्षा के परिवेश ने मध्यवर्गीय संस्कारों के केंचुल को उतारने में उनको मदद पहुँचाई। रणेन्द्र के लिए चेनारी का पदास्थापन जीवन का टर्निंग पॉइंट (Turning Point) साबित हुआ। यहाँ का अनुभव और प्रभाव दोनों उनके **'रात बाकी'** कहानी में दिखाई देता है।

साहित्यकार रणेन्द्र ने विविध विधाओं में अपनी लेखनी चलायी है। इनकी साहित्यिक कृतियों में उपन्यास **'ग्लोबल गाँव के देवता'** 2009, कहानी संग्रह **'रात बाकी एवं अन्य कहानियां'** 2010 और एक कविता संग्रह **'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ'** 2010 हैं। इसके साथ ही उन्होंने **'झारखंड एन्साइक्लोपीडिया'** 2008 का चार भागों में तथा **'पंचायती राज : हाशिये से हुकूमत तक'** 2011 का संपादन किया। इसके अतिरिक्त वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अलग-अलग मुद्दों पर अपने लेख भी प्रकाशित करते रहते हैं।

कथाकार रणेन्द्र का रचना संसार अधिक नहीं है लेकिन रचनाओं का दायरा विस्तृत है। विस्तृत इसलिए कह रही हूँ कि एक उपन्यास, एक कहानी-संग्रह एवं एक कविता संग्रह में उन्होंने एक विशाल खण्ड

को देखने का प्रयास किया है। उन रचनाओं को पढ़ने से पता चलता है कि, उनकी रुचि 'हाशिए के समाज' की समस्याओं को जनता के सामने लाने तथा उन समस्याओं का परिमार्जन करने में अधिक दिखाई देती है।

आदिवासी साहित्य और रणेन्द्र का रचना संसार

आदिवासियों पर लिखा साहित्य संवेदना और विषयवस्तु के आधार पर समृद्ध हो चुका है। आदिवासी साहित्य के चलते ही उनकी संस्कृति, उनके रीति-रिवाजों को जाना जा सकता है। इसके साथ ही उनकी जीवन-शैली, उनकी समस्याएं, उनका इतिहास, प्रकृति से उनका संबंध, उनको मुख्यधारा में शामिल करने की लड़ाई के वास्तविक कारण इन सारे सवालों पर हम उनके विचारों को समझ सकते हैं।

उपन्यास

हिन्दी साहित्य जगत में आदिवासियों से संबंधित उपन्यासों की संख्या अधिक नहीं है। फिर भी जो कुछ उपन्यास हमें मिलते हैं, उनमें से अधिकांश के लेखक गैर-आदिवासी हैं। अधिकांशत: ऐसे लेखक मध्यवर्गीय परिवार से आए हैं। इनका रहन-सहन आदिवासियों से बिल्कुल मेल नहीं खाता, फिर भी इन लेखकों ने आदिवासियों के बारे में जानने का प्रयास कर और उनके बारे में अपनी राय हमारे समक्ष रखी है। कुछ ऐसे भी लेखक हैं जिन्हें आदिवासियों के बीच रहने का अवसर भी प्राप्त हुआ है और उन्होंने उसका पूरा फायदा उठाकर उनके बारे में लिखकर उनकी समस्याओं को, संघर्षों को तथा उनकी जीवन शैली को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने की भरपूर कोशिश की है। क्या ये उपन्यासकार वाकई आदिवासियों के जीवन-शैली और उनके समाज को पाठकों के सामने रखने में सफल हो पाये हैं? जब हम उनके उपन्यासों, कहानियों तथा कविताओं का अध्ययन करते हैं तो ऐसा लगता है कि कुछ हद तक ये लेखक सफल भी हुए हैं। वैसे तो इस क्षेत्र में वही सबसे ज्यादा खरा उतर पायेगा जिसने उनके सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को जिया हो, उनको स्वानुभूति के साथ समझने की सत्यतापूर्ण कोशिश की हो।

आदिवासी शब्द मात्र से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि हम जल, जंगल और जमीन तथा उसके साथ जुड़े मानव संबंध की बात कर रहे हैं। वनों और आदिवासियों का रिश्ता वैसा ही होता है जैसा माँ और बेटे का होता है। अगर इन दोनों में से किसी एक को भी अलग कर दिया जाय तो यह सच है कि इन दोनों में से किसी के भी साथ न्याय नहीं होगा। आज के दौर में यही तो हो रहा है आदिवासियों के साथ। किसी न किसी प्रकार से उन्हें उनके ही जमीन और जंगल से बेदखल किया जा रहा है। उनके जीविकोपार्जन का साधन उनसे छीना जा रहा है। अब ऐसे में उनके सामने कर्ज लेकर जीविका चलाने के सिवाय और कोई दूसरा रास्ता नहीं रह जाता। यही कर्ज उनके शोषण की वजह बनता है और उस कर्ज के जंजाल से वे कभी नहीं निकल पाते।

यह सच है कि आदिवासी जिस क्षेत्र में रहते हैं उस भूखण्ड का कोना-कोना प्राकृतिक सुन्दरता से भरा पड़ा है। झारखण्ड के नाम से प्रसिद्ध भूखण्ड की पृष्ठभूमि में पीटर पॉल एक्का कृत **'मौनघाटी'** तथा **'जंगल के गीत'** 'मुण्डा' और 'उराँव' जनजाति पर केन्द्रित उपन्यास हैं। राजेन्द्र अवस्थी कृत **'जंगल के फूल'** 'गोंड' जनजाति पर, योगेन्द्र नाथ सिन्हा कृत **'वनलक्ष्मी'** 'हो' जनजाति पर तथा मनमोहन पाठक कृत **'गगन घटा घहरानी'** पलामू के आदिवासियों को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यास है।

क्या खुशगवार घाटियाँ अब भी मौन हैं? क्या अब भी इन घाटियों में जंगल के गीत गाए जाते हैं? इसका उत्तर देने के लिए **पीटर पॉल एक्का** ने अपने दोनों उपन्यासों में आदिवासियों की युवा शक्ति का वर्णन किया है। 'मौनघाटी' उपन्यास में कोलियरी खुलते ही घाटियों में बाहरी लोगों की घुसपैठ होने के साथ उनके द्वारा वहाँ के मूल निवासियों का मनमाना शोषण का यथार्थ चित्रित है। शोषण की इस स्थिति में युवा शक्ति ने घाटी के लोगों में जागृति और चेतना लाने का काम किया है। इस युवा शक्ति को देखकर घुसपैठी घाटी छोड़कर भागने लगे इस तरह से जो घाटी कभी मौन रहा करती थी अचानक गुँजायमान हो उठी थी। जंगल के गीत में भी लेखक ने उनके मुख्य प्रकृति पर्वों जैसे- 'करमा', 'सरहुल' तथा उनके रीति-रिवाजों पर भी प्रकाश डाला है, इसके साथ ही उनके (आदिवासियों) मुख्य जनांदोलन 'उलगुलान' का भी वर्णन किया है। उलगुलान का मतलब यही है कि आदिवासियों के जल, जमीन, जंगल पर कब्जा करने वाले बाहरी घुसपैठी, अगर हम उन्हीं की शैली में कहें तो दिकुओं को एक-एक कर यहाँ से खदेड़ दिया जाएगा तभी इस पहाड़ी में अमन-चैन के गीत गाए जायेंगे। आगे चलकर वे इस लड़ाई में सफल भी होते हैं।

राजेन्द्र अवस्थी कृत **'जंगल के फूल'** बस्तर की 'गोंड' जनजाति पर केन्द्रित है। इसमें लेखक ने सरकार और अंग्रेजी राज का वर्णन किया है इसके साथ ही यह भी दिखाया है कि किस प्रकार सरकार इन आदिवासियों को चालाकी से बेवकूफ बनाकर उनके नैसर्गिक अधिकारों को हड़पने की कोशिश करती है। इस उपन्यास में उपन्यासकार ने गोंड जनजाति के रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार को भी पाठकों के समक्ष रखा है। और वहाँ के निवासियों के 'घोटुल-जीवन' की संस्कृति पर भी प्रकाश डाला है। इसमें आदिवासी जो जंगल के फूल माने जाते हैं उनका अंग्रेजों व सरकार के प्रति कभी न रुकने वाला संघर्ष होता है जो आज भी अपनी अस्मिता व स्वतंत्रता के लिए जारी है।

'वनलक्ष्मी' योगेन्द्रनाथ सिन्हा का झारखण्ड की 'हो' जनजाति पर आधारित उपन्यास है। इस उपन्यास के अन्तर्गत सिहंभूम नाम के जिले के घने जंगल में एक अंग्रेजी कंपनी का ठेका था । वह कंपनी उस जंगल के नामक मोटे-मोटे शाल पेड़ों को काटकर कलकत्ता भेजती थी, यही उसका मुख्य व्यापार था। यह कंपनी सिर्फ मोटे पेड़ों का ही उपयोग करती थी, पतले पेड़ों को फेंक देती थी। वहाँ के 'हो' समुदाय के लोगों ने उन पेड़ों का महत्व समझा और उन पेड़ों को उपयोग में लाने का निर्णय लिया। साथ ही वे लोग उस जंगल में पायी जाने वाली जड़ी बूटियों को भी अपनी आय के लिये संग्रह करने लगे। इस तरह से उस गाँव में सभी

लोगों को **'बच्चे से लेकर बूढ़ों तक'** रोजगार के अवसर प्राप्त हो सके। परिणामस्वरूप वहाँ की बेरोजगारी धीरे-धीरे मिटती चली गई।

मैत्रेयी पुष्पा का सशक्त उपन्यास **'अल्मा कबूतरी'** बुन्देलखंड की 'कबूतरा' जनजाति पर आधारित है। इस उपन्यास में पुलिस द्वारा उनके ऊपर किए गये अत्याचार, प्रशासन के द्वारा शोषण, सभ्य समाज का धिक्कार और घृणा, सभ्य समाज के प्रति कबूतराओं का रोष और बदले की भावना, उनकी जीवन वृत्ति, चोरी, छीना-झपटी, लूट, डकैती आदि का विस्तार से वर्णव किया गया है।

इसी कड़ी में विनोद कुमार का **'समर शेष है'** उपन्यास का भी नाम लिया जा सकता है। यह 'संथाल' जनजाति पर आधारित उपन्यास है। वैसे देखा जाय तो संथाल जनजाति से संबंधित उपन्यास ज्यादातर लिखे गये हैं। साथ ही मधुकर सिंह का **'बाजत अनहद ढोल'** तथा राकेश कुमार सिंह का **'जो इतिहास में नहीं हैं'** संथालों के मुख्य जनान्दोलन 'हूल' पर आधारित उपन्यास हैं। स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के रूप में रानी लक्ष्मीबाई का नाम तो बहुत आदर-सत्कार से लिया जाता है लेकिन संथाल 'हूल' जनजाति की मुख्य नारी सेनानी फूलो और झानो का तो किसी इतिहास में जिक्र भी नहीं किया गया है। यही कारण है कि संथाल हूल को केन्द्र में रखकर मधुकर सिंह ने **'बाजत अनहद ढोल'** और राकेश कुमार सिंह ने **'जो इतिहास में नहीं हैं'** उपन्यास लिखे हैं।

'अमृत संतान' गोपीनाथ महांती का बहुचर्चित उपन्यास माना जाता है। यह उपन्यास उड़ीसा के 'कंध' आदिवासी जीवन पर केन्द्रित है। गोपीनाथ महांती आदिवासियों के बीच रहे थे। इसीलिए इस उपन्यास में उन्होंने 'कंध' जनजाति की जीवन-पद्धति, उसकी सामाजिक संरचना, उसकी संस्कृति का सूक्ष्म और विशिष्ट वर्णन किया है, जो सभ्य कहे जाने वाले समाज से एकदम भिन्न दिखाई देता है। दूसरी तरफ झारखण्ड के आन्दोलन पर आधारित संजीव कुमार ने **'पाँव तले की दूब'** लिखा है जिसमें मुख्य रूप से आदिवासियों की अस्मिता, आदिवासियों के संघर्ष और आदिवासियों की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दी गयी है। राजस्थान के आदिवासियों पर आधारित हरिराम मीणा का **'धुणी तपे तीर'** उपन्यास 'भील' जनजाति पर केन्द्रित है। पुन्नी सिंह का **'सहराना'** सहरिया जनजाति पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में बहुत गहराई से उपन्यासकार ने 'सोमा सहरिया' को केन्द्र में रखकर पूरे सहरियों की जीवन शैली को कथा के माध्यम से पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में एक गैर-आदिवासी उपन्यासकार की इतनी गहराई को देखकर लगता है कि उस सामाजिक परिवेश से लेखक का गहरा रिश्ता रहा है। इसी वजह से इस उपन्यास में इतनी जीवन्तता आ पायी है।

महुआ माजी कृत उपन्यास **'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ'** एक महत्वपूर्ण कृति है। यह उपन्यास भारत के सिंहभूम के आदिवासियों तक ही सीमित नहीं है बल्कि इसकी व्याप्ति जापान, अमेरिका,

आस्ट्रेलिया तथा विभिन्न द्वीपों पर रहने वाले आदिवासियों के जीवन तक है। इसलिए इस उपन्यास को विजयमोहन सिंह ने **''पहला अन्तर्राष्ट्रीय उपन्यास''** कहा है। इतना तो है कि इस उपन्यास का दायरा बहुत विस्तृत और व्यापक है जिसमें द्वितीय विश्वयुद्ध में हुए विध्वंस से लेकर आज प्राय: सम्पूर्ण विश्वयुद्ध में रेडियोधर्मी विकिरण तथा विकास के नाम पर किये जा रहे भूमि अधिग्रहण द्वारा निरन्तर विस्थापित आदिवासियों की करुण कथा कही गई है।

इस प्रकार से आज के आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यास सृजन में अनेक नए, पुराने हस्ताक्षर क्रियाशील हैं। आदिवासियों से संबंधित उपन्यासों में चाहे लेखक आदिवासी हो या गैर-आदिवासी इन सभी उपन्यासों में आदिवासियों की जीवन-शैली उनकी सभ्यता, संस्कृति को आधार बनाकर लिखा गया है। इसके साथ ही इन सभी उपन्यासों में उनके संघर्ष की महागाथा मिलती है। यही कारण हैं कि ये विशेषताएँ रणेन्द्र कृत 'ग्लोबल गाँव के देवता' में भी सहज ही दिखाई दे जाती हैं।

ग्लोबल गाँव के देवता

रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' मुख्य रूप से झारखण्ड के 'असुर' जनजाति पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में भारत के विशेष रूप से झारखण्ड के एक आदिवासी समाज का अपने अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए लम्बे संघर्ष और लगातार मिटते जाने की प्रक्रिया का संवेदनशील चित्रण है। इस उपन्यास में असुर समाज का संवेदनशील चित्रण इस लिए मुमकिन हो पाया है क्योंकि रणेन्द्र खुद वहाँ उनके बीच तीन साल साथ रहकर गुजारे थे। उनके सुख-दुख व जीवन परिवेश को महसूस किया था। तब जाकर ऐसी धारदार रचना पाठकों के सामने आ पायी है। उपन्यास की रचना-प्रक्रिया को लिखते समय उन्होंने यह भी लिखा है कि इस असुर समाज के लोगों से उनका कितना लगाव था। **रणेन्द्र** लिखते हैं – ''एक सरकारी पदाधिकारी का आदिम जनजाति से जुड़ाव। रुमझुम–लालचन जैसे असुर युवकों से अपने लगाव को कैसे समझाऊँ? विमर्श के दौर में यह फैशनेबल तो लगता है किन्तु विश्वसनीय नहीं!... किन्तु इन्हीं सहज सम्बन्धों के विकास में इस रचना का उत्स भी छुपा है।''[2]

उपन्यासकार ने अपने इस उपन्यास में असुरों के प्रति बने पूर्वाग्रह जैसे – असुर शब्द सुनते ही हिन्दी पाठकों की कल्पना में ऐसे लोगों का चित्र उभरता है जो विचित्र, भयानक, मायावी, खूंखार, नरभक्षी और असभ्य हों तथा जिनके नाखून और दाँत बहुत बड़े-बड़े हों, का भण्डाफोड़ किया है तथा इस तस्वीर को तोड़ने का प्रयास किया है।

इस उपन्यास में असुर समाज में धर्म के नाम पर कुछ ज्यादा ही अंधविश्वास व्याप्त दिखाई देता है। उपन्यास का एक पात्र (लालचन्द) कहता है - ''धान को आदमी के खून में सानकर बिचड़ा डालने से फसल बहुत अच्छी होती है। इसलिए इस सीजन में मुड़ीकटवा लोग घूमते रहते हैं।''[3] फसल अच्छी हो इसके

लिए एक आदमी की बलि चढ़ाई जाती है। यह अंधविश्वास केवल आदिवासी समाज में ही नहीं बल्कि हिन्दू समाज में भी व्याप्त दिखाई देता है जिसका प्रमाण 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की 'जूठन' और 'तुलसीराम' की 'मुर्दहिया' में भी मिलता है। इसका मुख्य कारण है शिक्षा का अभाव। जब तक शिक्षा का प्रसार नहीं होगा तब तक पूजा के नाम पर बलि चढ़ाई जाती रहेगी। यह उपन्यास इस तरफ भी इशारा करता है कि आदिवासी अंधविश्वास में डूबे हैं। उसका एक कारण यह भी है कि वह मुख्यधारा से अलग रहे हैं, विकास की इस दौड़ में पीछे की तरफ खड़े हैं। लेकिन तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले समाज में भी यह अंधविश्वास क्यों है? यह अपने आप में एक बड़ा सवाल है।

आदिवासी समाज के मुख्य देवता हैं – पाट देवता, सरना माई, महादनिया-महादेव, सिंगबोंगा, गाँव के सीमान्त के देव और पितर-पूर्वज। साथ ही यह समाज प्रकृति की भी पूजा करता है। प्रकृति को अपने हृदय में स्थान देता है। जिसकी महत्ता को विद्वानों ने बाद में समझा आदिवासी समाज उसी प्रकृति की निरंतरता को स्थापित किए हुए है। उसे विद्वानों की तरह **''BACK TO THE NATURE''** कहने की जरूरत आज तक नहीं पड़ी। इसके साथ ही वह अपने पितर-पूर्वजों को सबसे ज्यादा याद करते हैं और वह अपने बच्चों का नाम भी पूर्वजों का ही रखते हैं। नामकरण की यह प्रक्रिया किसी और समाज में नहीं दिखाई देती।

असुर समाज में स्त्री-पुरुष के बीच समानता है और स्त्री अपना सहज जीवन जीने के लिए स्वतंत्र है। उपन्यासकार अपने उपन्यास में यह भी बताता है कि आदिवासी समाज में मुख्यधारा के समाज की तरह महिलाओं को जनानी नहीं कहा जाता है क्योंकि इस शब्द से केवल बच्चा जनने की प्रक्रिया का ही बोध होता है। इसके बरअक्स आदिवासी समाज में स्त्री को 'सियानी' कहा जाता है जिसका संबंध सयानेपन व समझदारी से होता है। इसके साथ ही रणेन्द्र यह भी बताते हैं कि असुर समाज में स्त्री-पुरुष के बीच प्रेम का विकसित होना मुख्यधारा की तरह गुनाह नहीं माना जाता बल्कि उत्सव का अवसर माना जाता है। आज-कल बड़े शहरों में विवाह की रूढ़ियों से मुक्त होकर स्त्री-पुरुष एक साथ रहते हैं जिसे कानून की भाषा में 'लिविंग टुगेदर' कहा जाता है। आदिवासी समाज में यह परंपरा बहुत पुराने समय से चली आ रही है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' का एक आकर्षक पहलू यह है कि इसमें असुर समाज की अस्मिता के विभिन्न पक्षों का ऐसा चित्रण है जो पाठकों का ज्ञान बढ़ाने वाला है ही साथ में असुर समुदाय के प्रति संवेदनशीलता जगाने वाला भी है। असुर समाज प्रकृति की पूजा तो करता ही है साथ ही उसके गुणों को भी अपनाता है। इसीलिए तो असुरजनों में चट्टानों की तरह दृढ़ता, नदी की तरह तरलता और हवा की तरह गति की एकता मिलती है। उपन्यास के अन्तर्गत यह भी बताया गया है आदिवासी समाज समतावादी और भेदभाव से मुक्त समाज है। उस समाज का जीवन लोकतांत्रिक है और सामुदायिक भी। जिसकी पुष्टि उपन्यासकार ने असुर समुदाय के प्रत्येक गाँव के बीच में या बाहर एक अखड़ा सामाजिक-सांस्कृतिक स्थल

से की है। उस स्थल पर पुरुष के साथ-साथ स्त्रियाँ भी होती हैं और प्रकृति के साथ-साथ संस्कृति भी। जहाँ बहस के बाद नृत्य का कार्यक्रम भी चलता है। अखड़ा असुर समाज के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र माना जाता है।

संगीत और नृत्य आदिवासी संस्कृति की सहज विशेषता है, जिसमें स्त्री-पुरुष के बीच के राग, प्रकृति से लगाव और जीवन से प्रेम की सहज अभिव्यक्ति होती है। इस उपन्यास में एक उत्सव पर, आयोजित झूमर नाच की गति, लय और प्रभाव का बिम्बात्मक चित्रण किया गया है। इस उपन्यास में पाँच कविताएं है जो कथा को गति प्रदान करती हैं। देखा जाय तो यह उपन्यास संरचना के लिहाज से बहुत ही प्रभावित सामंजस्य रखता हैं, जिसमें आख्यान और कविता का तथा कथादृष्टि और काव्य संवेदना का दुर्लभपूर्ण सामंजस्य दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि रणेन्द्र एक कवि भी हैं।

इस उपन्यास में मुख्य समस्या है आदिवासियों के विस्थापन की। विस्थापन की वजह से ही आज उन पर अपने अस्तित्व और अस्मिता का भी खतरा मँड़रा रहा है। सरकार विकास के नाम पर उनका विनाश कर रही है, पूरी की पूरी बस्ती उजाड़ी जा रही है, और पुनर्वास के नाम पर ठेंगा दिखाया जा रहा है। उनके साथ अमानवीय व्यवहार हो रहा है। इसलिए उन लोगों को अपने जल, जंगल और जमीन को बचाने के लिए विद्रोह करना पड़ता है। इस विद्रोह की झांकी हमें पूरे उपन्यास में दिखाई देती है।

यह एक सच है कि जहाँ आदिवासी निवास करते हैं वह क्षेत्र एक ओर वन विपुल क्षेत्र है तो दूसरी ओर कोयला, लौह, अयस्क, अभ्रक, बाक्साइट, मैगनीज, ताँबा, काओलिन, अग्निरोधक पत्थर, क्रेनाइट, क्रेमाइट, यूरेनियम जैसे महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ से भरपूर है। जल, जंगल, जमीन रूपी प्रकृति की विरासत उन्हें वरदान स्वरूप प्राप्त हुई है किन्तु आदिवासियों के लिए यही वरदान उनके विनाश व पतन का कारण बन गया है। जल, जंगल और जमीन के बिना आदिवासियों का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। ये तीनों आधुनिक विश्व बाजार की सबसे बहुमूल्य सम्पदा हैं। यह बात शोषक वर्ग को अच्छी तरह से पता है इसीलिए बाहर से आने वाले शोषक सबसे पहले आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन पर ही अपनी बुरी नजर डालते हैं और उसे हड़पने के लिए हर तरह की चाल चलते हैं।

वर्तमान समय में सरकार आदिवासियों, दलितों तथा पहाड़ी जनजातियों के लिए विभिन्न योजनाओं-परियोजनाओँ के द्वारा जिस विकास का दम्भ भरती है, प्रश्न है कि क्या सही मायने में वह विकास हो रहा है ? नहीं। वह एक मात्र छलावा भर है। इसकी आड़ में लूट का एक महाजाल बिछाया गया है। विकास के नाम पर आदिवासी बहुल क्षेत्रों में परियोजनाओं, औद्योगीकरण, खनन कार्य, और पुलिस फोर्स की बाढ़ सी आ गयी है। जिससे आम जनता, सरकार और मीडिया के द्वारा यह समझती है कि आदिवासियों का विकास हो रहा है जबकि सच्चाई यह है कि वहाँ विकास के नाम पर मात्र विस्थापन और विनाश हो रहा है।

किन्तु हमारी मीडिया इस बात को न लिखती है और न ही दिखाती है। विकास के नाम पर सरकार केवल लूट को प्रोत्साहन दे रही है। सत्ता के इसी रवैये के कारण विकास का नाम सुनते ही आदिवासी भय से ग्रसित हो जाते हैं और डर के मारे अपने गाँवों को छोड़कर जंगलों और गुफाओँ में भाग जाते हैं। आज तो विकास के बदले विस्थापन अनिवार्य रूप से आदिवासियों को उपहार में दिया जा रहा है। वह चाहे सरकार हो, या फिर चाहे पूँजीवादी शोषक वर्ग दोनों तरफ से विस्थापन की मार आदिवासी समुदाय ही झेल रहा है।

वैसे देखा जाए तो विस्थापन की समस्या आदिवासी समाज में अंग्रेजों के जमाने से ही व्याप्त है। **रणेन्द्र** ने आदिवासियों के विस्थापन की समस्या के बारे में अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में तो यहाँ तक लिखा है – ''हम वैदिक काल के सप्तसिन्धु के इलाके से लगातार पीछे हटते हुए आजमगढ़, शाहाबाद, आरा, गया या चुटिया नगर पहुँचे। हजारों सालों में कितने पाण्डवों, कितने सिंगबोंगा ने कितनी बार हमारा विनाश किया। कितने गढ़ ध्वस्त किए उसकी कोई गणना किसी इतिहास में दर्ज नहीं है। केवल लोककथाओं और मिथकों में हम जिन्दा हैं।"[4] इस प्रकार 'देवराज इन्द्र' से लेकर आधुनिक काल के 'ग्लोबल गाँव' के व्यापारियों द्वारा इन आदिवासियों के दोहन-शोषण के साथ-साथ उन्हें (असुरों) उनके जमीन से खदेड़ने की प्रक्रिया आज भी जारी है। फर्क बस इतना है कि पहले कम थी लेकिन बीसवीं सदी के नवें दशक से लगभग, इस बाजारीकरण, भूमण्डलीकरण, वैश्वीकरण के दौर में यह प्रक्रिया और बढ़ गयी है। भीमकाय जलविद्युत परियोजनाएँ, फौलाद के कारखाने, खदान व औद्योगिक इकाईयाँ, बिना सोचे व्यावसायिक वनरोपण, बड़े-बड़े बांधों के निर्माण, राष्ट्रीय मार्ग परियोजनाओं, जैविक सुरक्षा क्षेत्रों, अभ्यारणों, राष्ट्रीय उद्यानों संबन्धी योजनाओँ, पुनर्स्थापन योजनाओं आदि ने आदिवासी समाज को अपने जल, जंगल और जमीन से बेदखल कर बड़े पैमाने पर विस्थापित किया है। विस्थापन की समस्या के कारण ही आदिवासी समाज के सामने अपने अस्तित्व व पहचान की समस्या के साथ-साथ रोजगार, पुनर्वास और जमीन आदि की समस्याओं का प्रकोप और अधिक बढ़ गया है। इसी तरह से 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासियों के विस्थापन के कारण में टाटा जैसी कंपनियों का जिक्र किया गया है। इस उपन्यास में असुर समाज की यह (विस्थापन) ज्वलंत समस्या है। उनकी समस्या यह है कि टाटा जैसी कंपनियों ने उनके परम्परागत आजीविका के साधनों पर गहरा प्रहार किया है तथा उनको नष्ट करके छोड़ा है। टाटा फैक्ट्रियों में बना लोहा जैसे – कुदाल, खुरपी, गैंता, खंती आदि झारखण्ड के ग्रामीण इलाकों के सुदूर हाटों व बाजारों तक पहुँच गये हैं। असुरों के द्वारा बनाए जाने वाले औजारों की मांगें बाजार में खत्म हो गई हैं। इस प्रकार से लोहा गलाने का उनका हजारों-हजार साल का हुनर धीरे-धीरे खत्म हो गया। उनके बाजार को बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने हमेशा के लिए लील लिया। यही कारण उन्हें विस्थापन की ओर ढकेल देता है।

आदिकाल से लेकर आज तक आदिम जनजातियाँ वन्य जीवन बिताती रही हैं। अपने को देवता कहने वाले नगरवासियों ने उनका लगातार दोहन, शोषण और उत्पीड़न किया है। सभ्यता और विकास के

नाम पर प्रकृति को रौंदा गया है, साथ ही प्राकृतिक जीवन जीने वाले निरीह प्रकृत मानव समुदायों के जीवन से हिंसक, बर्बर, अशिष्ट और अश्लील तरीके से छेड़छाड़ की गई। उनकी आस्था के साथ खिलवाड़ किया गया, उनकी परम्पराओं को तोड़ा-मरोड़ा गया है उनके जीवन के साधनों और संसाधनों को तहस-नहस किया गया है। ऐसी दशा ने उन्हें शरणार्थियों की स्थिति में ला पटका है। उपन्यासकार **रणेन्द्र** ने लिखा है - "पूर्वजों ने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो उन्हें राक्षस कहा गया। खेती के फैलाव के लिए जंगलों के काटने जलाने का विरोध किया तो वे दुष्ट दैत्य कहलाए। उन पर आक्रमण हुआ और लगातार खदेड़ा गया।"[5]

भूमण्डलीकरण ने विकास के नाम पर विस्थापन के रूप को और भी दर्दनाक बना दिया है। वर्तमान समय में राष्ट्र-राज्य, ग्लोबल गाँव के देवताओं के साथ गठजोड़ और विज्ञान की टेक्नालॉजी ने आदिवासियों के शोषण को चरम स्थिति में पहुँचा दिया है। शोषकों ने विज्ञान की सहायता से आदिवासियों का अन्त करके छोड़ा है। इस दौर में खुले खदानों का प्रचलन तथा अवैध खनन और भी बढ़ गया है, जिससे विस्थापन और ज्यादा बढ़ा है इसका सबसे ज्यादा शिकार आदिवासी ही हुए हैं। ऐसी स्थिति में महिलाओं और बच्चों का जीना दूभर हो गया है। **रणेन्द्र** ने लिखा है - "मजूरी और जंगल का सहारा जो नहीं हो तो लोग फिर आसाम, भूटान निकल जाएं। लेकिन इन खानों ने मजूरी दी तो दूसरी तरफ बर्बादी के सरंजाम भी खड़े किए। पिछले पच्चीस-तीस सालों में खान मालिकों ने जो बड़े-बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढ़ों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहां के लिए महामारी है।"[6] यही बॉक्साइट खनन प्रकृति का वरदान न बनकर असुरों के लिए जीवन का शोक बन गया है। इसीलिए भूमण्डलीकरण के दौर में आदिवासियों के बीच सही मायने में शान्ति के नाम पर अशान्ति का प्रसार हुआ है, स्वतंत्रता के नाम पर भीषण दमन हुआ है और मानवता के नाम पर घोर अमानवीयता का तांडव हुआ है।

रणेन्द्र ने अपने उपन्यास में विकास के नाम पर सत्ताधारियों की चाल का भण्डा फोड़ किया है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। उपन्यास में विकास के नाम पर पाथर-पाट में एक शानदार स्कूल खोला जाता है जिसे असुरों के सौ से ज्यादा घरों को उजाड़कर बनाया जाता है। आदिवासियों के लिए बनाये गये इस सुविधाजनक स्कूल में वास्तव में गैर-आदिवासी बच्चे ही धड़ल्ले से पढ़ते हैं। यहाँ पिछले तीस सालों से किसी भी आदिवासी बच्चे का दाखिला नहीं हुआ है, रुमझुम जैसा पात्र इसका जीता जागता उदाहरण है। आदिवासियों के लिए बनाए गये इस सुविधाजनक स्कूल में आदिवासियों को दाखिला न देने का आखिर कारण क्या है ? मेरे विचार से गैर-आदिवासी यह समझते हैं कि दिन-रात नशे में लिप्त रहने वाले आदिवासी अगर शिक्षित हो जायेंगे तो आसानी से वे उन्हें अपने चंगुल में नहीं रख सकेंगे और न ही उनका मनमाना शोषण कर पायेंगे। उन्हें शायद यह भी डर रहा होगा कि अगर आदिवासी आर्थिक-सामाजिक स्तर पर सम्पन्न हो जाएगा तो उन्हें हर क्षेत्र में दावेदारी की चुनौती मिलेगी। लेखक आगे यह भी इशारा करता है कि इस सुविधाजनक स्कूल को बनाने के चक्कर में पाथर-पाट में रहने वाले आदिवासियों को विस्थापित किया गया वह आज भी पाथर-पाट से कहीं दूर अपनी जैसी-तैसी जिन्दगी गुजार रहे हैं। सरकार की तरफ से न तो उनको

पुनर्वास की व्यवस्था की गई और न ही उन्हें मुआवजा दिया गया। यहाँ पर **रमणिका गुप्ता** की बात सही जान पड़ती है, वह लिखती हैं - 'जिनकी जमीन छीनी गयी वे भूमिहीन, घर विहीन हो गये और जो भूमिहीन उन जमीनों पर आश्रित थे, अपने गाँव में अन्य रोजगार करते थे, पुर्नवास की कोई वैकल्पिक योजना न होने के कारण सब के सब बेरोजगार हो गए।''[7] इन्हीं कारणों से आदिवासी समाज की स्थिति और बदतर हो गई है। लेकिन अब सरकार द्वारा दिए गए दिलासे से इन वनवासियों का मोह भंग हो गया है। सरकार के इस छलावे को अब वे समझ गये हैं। अतः अब वे एकजुट होकर सरकार के खिलाफ हथियारबद्ध विद्रोह करने वालों के गुटों में शामिल होकर अपने बचाव व मुक्ति का रास्ता खोज रहे हैं।

उपन्यासकार ने आगे इसकी तरफ भी संकेत किया है कि शोषक वर्ग का हाथ आदिवासियों के सिर्फ जल, जंगल, जमीन तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि उनके हाथ अब उनके घर की इज्जत (बहू, बेटियाँ, माँ) तक पहुँच गए हैं। वर्तमान समय में आदिवासियों के हाथों से जल, जमीन, जंगल के साथ-साथ उनकी बेटियाँ भी निकली जा रही हैं। आदिवासियों की इन समस्याओं के सम्बन्ध में झारखण्ड में एक पत्रकार के रूप में अपनी पहचान बनाने वाली, साथ ही उनके सामाजिक जीवन में अपना महत्वपूर्ण योग देने वाली **वासवी** ने लिखा है - "आज आदिवासियों के हाथों से जंगल, जमीन और औरत निकलती जा रही है। झारखण्ड में आजादी के आधी सदी के बाद विस्थापन, पलायन, जंगल-कटाई, सूखा अकाल, बंजरीकरण की नई समस्याएं कुंडली मारकर बैठी हैं। औद्योगीकरण के नाम पर खनिज सम्पदाओं के अवैधानिक दोहन और लूट, इससे काला धन की कमाई करने वाले शासन-प्रशासन के लोगों ने झारखण्ड को तबाही के कगार पर ला खड़ा किया है। समस्या आदिवासियों को नकारने की प्रवृति और हीन बताने की भावना से ज्यादा गंभीर हुई है।"[8]

आदिवासियों की अशिक्षा के कारण ही उनसे सादे कागज पर ठेपा लगवाकर उनकी जमीन छीनी जाती है। रणेन्द्र के उपन्यास में अवैध खनन के लिए पाँच-दस असुरों को रोज फुसलाया जाता है और उनकी जमीन हड़पी जाती है। यह सिलसिला इस कदर जारी है कि असुर समाज में हर गुरुवार को होने वाली अखड़ा की बैठक में दो ही सवाल सामने होते हैं कि फलां-फलां घर में खदान दलाल के सादे कागज पर ठेपा लगा दिया है या फलां-फलां की बेटी बाहर निकल गई है या वह पाट पर तो है किन्तु मेठ मुंशी के डेरे पर ही रहती है, अपने घर में नहीं आती। गरीबी, बीमारी की मार तथा परिवार की माली हालत के कारण आदिवासी की सयानी लड़कियों को सम्पन्न, जमींदारों, नौकरशाहों, खदान के मालिकों और प्रभावशाली कारिन्दों की रखैल के रूप में रहते हुए उनके घरेलू काम करने पड़ते हैं। साथ ही कच्ची उम्र की लड़कियों को दिल्ली, कलकत्ता आदि का सपना दिखाकर उनका चालान भी किया जाता है, जहाँ पहुँचकर वे न जाने कैसे-कैसे अन्याय व शोषण सहती हैं। परिणामतः बेटियाँ और जमीन दोनों उनके हाथों से निकलती जाती हैं जो उनकी सबसे बड़ी चिन्ता का विषय हैं। इन सारी समस्या को रणेन्द्र ने अपने उपन्यास में अभिव्यक्त किया है।

उड़ीसा, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ में नक्सलवाद एक गंभीर समस्या है जिससे छुटकारा पाने के लिए सरकार 'ग्रीन हंट' जैसा सैन्य अभियान चला रही है। इस प्रकार के अभियानों में नक्सलियों का तो कम किन्तु आदिवासियों के शान्तिमय और लोकतांत्रिक आन्दोलनों को ज्यादा कुचला जाता है। आम जनता को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है साथ ही बेकसूरों को अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ता है। इस तरह की घटनाएं कई आदिवासी क्षेत्रों की ज्वलंत समस्याएं हैं। बेकसूर भोले-भाले आदिवासियों को निशाना बनाया जा रहा है और साथ ही बिना जुर्म के नक्सलियों से सांठ-गांठ के झूठे इलजाम में पुलिस की बेंत खानी पड़ती है या जेल की हवा खानी पड़ती है। रणेन्द्र के 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में भी इस समस्या का जिक्र मिलता है। उपन्यास में विरोध कर रहे छ: आदिवासियों को पुलिस गोलियों से छलनी कर देती है। बाद में इसी घटना को मीडिया के माध्यम से 'पुलिस और नक्सलियों के समूह से मुठभेड़' नाम दे दिया जाता है। इसके साथ ही मरने वालों को नक्सली कह दिया जाता है।

विकास के नाम पर सत्ता विनाश कर रही है किन्तु वह सवर्णों की नहीं, सिर्फ आदिवासियों और निम्न वर्गों की जमीन हड़पना चाहती है। **प्रो. वीर भारत तलवार** की राय में – "आज आदिवासियों की, किसानों की जमीन लेने के लिए राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद में होड़ सी मची हुई है।...राष्ट्रवादी सरकारें ही हैं जो कमजोर आदिवासियों और गरीब किसानों की जमीनें इन कंपनियों को दिलाती हैं।"[9] उपन्यास में इस सन्दर्भ में भेड़िया अभ्यारण बनाने के लिए सैंतीस गाँवों के आदिवासियों को उजाड़ने की सरकारी नीति के तहत वन विभाग के अधिकारियों द्वारा सरकारी रिकार्ड में इन सैंतीस गाँवों को निर्जन दिखाना, वेदांग नामक बहुराष्ट्रीय कंपनी को अभ्यारण के अधिग्रहीत जमीन पर तारबंदी का ठेका देकर राजनीतिक गोटियों का खेल खेला जाना सहज ही देखा जा सकता है। इसके साथ ही समझौता के तौर पर बंधी कंपनियों को खनन के बाद गड्ढों को भरना या पाटना था तथा लाभ का एक बड़ा हिस्सा अंचल के विकास कार्यों पर खर्च करने का भी प्रावधान था लेकिन न ही ये गड्ढे भरे गए और न ही विकास के कार्यों पर ही खर्च किया गया। उपन्यास का एक पात्र डॉ. रामकुमार कहता है - "हमें तो लगता है कि जानबूझकर सरकार भी मटिया रही है। चाहती है, पाट पर आबादी जितनी जल्दी खत्म हो बॉक्साइट निकालने में उतनी ही आसानी होगी।"[10]

इतना ही नहीं उपन्यास के अन्त में यहाँ तक भी देखने को मिलता है कि आदिवासी अपने वजूद, अपनी पहचान, अस्मिता तथा अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संघर्ष करते हैं। आदिवासियों के संघर्ष के बावजूद उनके वजूद को तोड़ने की रणनीति अपनाई जाती है। साथ ही 'संघर्ष समिति' के मुखिया लालचन दा पुलिस षड्यंत्र के शिकार हो जाते हैं। उनसे जबरदस्ती सादे कागज पर हस्ताक्षर करवाकर छोड़ दिया जाता है। इस षड्यंत्र के चलते लालचन दा को इतना सताया जाता है कि वे अपना मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। क्या अपने समाज को बचाने के लिए किए गए संघर्ष का यही परिणाम है ? जबकि 'संघर्ष समिति' के मुखिया लालचन दा की यह इच्छा कदापि न थी कि वह कंपनियों के साथ समझौता करके सैंतीस असुर वन गाँवों को नरक-कुण्ड में ढकेल दें। ऐसी अवस्था में जब उन्हें यह पता चलता है तो वे खुद को भी माफ

नहीं कर पाते हैं क्योंकि इस समझौते से समाज तो क्या, उनका परिवार ही उनसे अलग हो चुका था। असुरों के सैंतीस वन गाँवों को बचाने के लिए उनकी ये लड़ाई अभी खत्म नहीं हुई थी। उपन्यासकार इस लड़ाई में असुर समाज की स्त्रियों के बढ़-चढ़कर किए गए योगदान का भी जिक्र करता है। अब असुर समाज की इस लड़ाई की अगुआ ललिता तथा बुधनी थीं। इन सैंतीस गाँवों में सिर्फ इन लोगों की जिन्दगी का ही सवाल नहीं था बल्कि हजारों परिवार के जीवन का सवाल था। इन सैंतीस गाँवों के ग्रामीणों की व्यवस्था अर्थात पुनर्वास किए बिना घेर-बन्दी कैसे हो सकती है ? आखिर वे जाएंगे कहाँ ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर लेने तथा अपनी बात प्रशासन के सामने रखने के उद्देश्य से ललिता तथा बुधनी दी की अगुवाई में गाँव के असुर, उराँव, खेरवार, सदान सबके सब अपनी लड़ाई जारी रखते हैं। अन्त में ललिता और बुधनी दी के साथ अन्य पन्द्रह लोग समझौते के लिए जा रहे होते हैं उसी वक्त साजिश के तहत बम विस्फोट से उनको उड़ा दिया जाता है। असुर समाज की लड़ाई का अन्त इन विस्फोटों के साथ कैसे हो सकता है? बल्कि देखा जाय तो उनकी लड़ाई अब नयी पीढ़ी के साथ नया मोड़ लेती है। युनिवर्सिटी हॉस्टल से सुनील को अपने साथियों के साथ कोयल बीघा पाट के लिए निकलना पड़ता है। लड़ाई की बागडोर अब उसे संभालनी थी। उनके सामने कई चुनौतियाँ थीं। उन चुनौतियों का सामना करना भी उनके ऊपर ही था। उनके ऊपर अपने भाइयों तथा पूरे असुर समाज की इच्छाओं को पूरा करने का भार है जिन्होंने आजीवन अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ते हुए अपने प्राण न्योछावर कर दिये।

इस तरह से हम देखते हैं कि अधिक-से-अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से पूंजीपति वर्ग सूदखोर, महाजन तथा उन इलाकों में रहने वाले सम्पन्न सवर्ण परिवार के लोग नयी-नयी चालों से आदिवासी को फाँसते हैं, जहाँ से वे पुनः बाहर नहीं निकल पाते । परिणामतः उन्हें अपने नैसर्गिक अधिकारों, जल, जंगल, जमीन तथा बेटियों से हाथ धोना पड़ता है जो उनके आत्मसम्मान तथा अस्मिता की पहचान है। और साथ ही विस्थापित होने को मजबूर हैं। ऐसी स्थिति में हमें बिरसा मुंडा के उलगुलान की याद आना स्वाभाविक है। जो हमें निराशा में आशा का संचार करता हुआ नजर आता है और विकल्प का नया-नया रास्ता दिखलाता है। झारखण्ड अलग राज्य के लिए उलगुलान, झारखण्ड–निर्माण के लिए उलगुलान, जल, जंगल, जमीन बचाने के लिए उलगुलान, भाषा–साहित्य संस्कृति की रक्षा के लिए उलगुलान, पारम्परिक स्वशासन तथा उपनिवेशवाद के हाथों से मुक्ति के लिए उलगुलान अर्थात् यह एक अकेला ऐसा हथियार है जो हमें शहीद बिरसा के दर्शन से प्राप्त हुआ है। ये उलगुलान हमें इस उपन्यास में भी दिखाई देता है। यही उलगुलान ही तो 'ग्लोबल गाँव के देवता' जैसे उपन्यासों में वर्णित आदिवासियों के विस्थापन सम्बन्धी समस्याओं से छुटकारा पा सकने का एक मात्र हथियार है।

कहानी

आदिवासी अस्तित्व, अस्मिता तथा उनके जीवन के प्रश्न को हिन्दी कहानी में भी उठाया गया है। हिन्दी के बहुत से कथाकारों ने आदिवासियों की समस्याओं को केन्द्र में रखा है। इनकी कहानियां आदिवासी जीवन की त्रासदियों को उकेरती हैं। ऐसे कथाकारों की दो धाराएं हमारे सामने आती हैं पहली धारा में खुद आदिवासी कथाकार हैं जो अपनी स्वानुभूति के साथ इस क्षेत्र में लेखनरत हैं। दूसरी तरफ गैर-आदिवासियों का एक हिस्सा उनके नजदीक रहकर उनके सुख-दु:ख को बांटकर पुरजोर तरीके से लेखन में लगा हुआ है। आदिवासी कथाकारों में रोज केरकेट्टा, वाल्टर भेंगरा, एलिस एक्का, जेम्स टोप्पो तथा पीटर पॉल एक्का आदि आते हैं। रोज केरकेट्टा की कहानी **'धुआं-धुआं'**, वाल्टर भेंगरा के दो कहानी-संग्रह बहुत पहले प्रकाशित हुए थे। सन् 1983 ई. में **'देने का सुख'** और सन् 1985 ई. में **'लौटती रेखाएँ'** कहानी निकलीं, पीटर पॉल एक्का के तीन कहानी संग्रह **'खुला आसमान बंद दिशाएं'**, **'परती जमीन'** और **'सोन पहाड़ी'** प्रकाशित हुई। जेम्स टोप्पो का कहानी-संग्रह – **'शंख नदी भर गेल'** तथा एलिस एक्का की कहनियाँ आदिवासी पत्रिका के पन्नों पर ही दर्ज रह गईं और उनका कोई एकल संग्रह प्रकाशित नहीं हो पाया। दूसरी तरफ गैर-आदिवासी कथाकारों में राजेन्द्र अवस्थी, शानी, मेहरुन्निशा परवेज, योगेन्द्रनाथ सिन्हा, संजीव, उदय प्रकाश, मनमोहन पाठक, राकेश वत्स, मनीष राय, नमिता सिंह तथा रणेन्द्र आदि आते हैं। राजेन्द्र अवस्थी के दो कहानी-संग्रह सन् 1959 ई. में **'महुआ'** और **'आम के जंगल'** हैं। मेहरुन्निशा परवेज की कहानी **'टोना',** योगेन्द्रनाथ सिन्हा के तीन कहानी-संग्रह सन् 1954 ई. में **'पहाड़ की पुकार'** तथा सन् 1956 ई. में दो कहानी-संग्रह **'दुंबी हो'** तथा **'मूंछ की लड़ाई'** प्रकाशित हुए। संजीव की कहानी **'प्रेतमुक्ति'** तथा **'पांव तले की दूब'** बहुत महत्वपूर्ण कहानियां हैं। राकेश वत्स की कहानी **'अवशेष'**, मनीष राय की कहानी **'शिलान्यास'** नमिता सिंह का कहानी-संग्रह **'जंगल गाथा'** और रणेन्द्र का कहानी-संग्रह **'रात बाकी एवं अन्य कहानियां'** है। इन सभी समकालीन कथाकारों ने अपने कथा-साहित्य में आदिवासी अस्मिता, उनके अस्तित्व, उनकी स्त्रियों के दैहिक शोषण तथा उनके ऊपर पूँजीपतियों और प्रशासन द्वारा किए जा रहे विनाश की गाथा कही है। यहाँ आदिवासी जीवन अपनी धड़कनों, जीवंतताओं और प्रामाणिकता के साथ विद्यमान है।

रात बाकी एवं अन्य कहानियां

'रात बाकी एवं अन्य कहानियां' रणेन्द्र की महत्वपूर्ण कहानियों का संग्रह है जिसमें सात कहानियां संग्रहित हैं। ये कहानियां अलग-अलग समय में कई पत्रिकाओ में प्रकाशित हुई थीं। यह कहानी संग्रह 2010 ई. में प्रकाशित हुआ। इस कहानी संग्रह की सारी कहानियां पहले-पहल किसी पत्रिका में छपी हैं तत्पश्चात् इस कहानी संग्रह में। इसी कहानी संग्रह में 'रात बाकी' कहानी संग्रहीत है, जो 2005 ई. में

'कथादेश' में प्रकाशित हुई और इसे **'अखिल भारतीय हिन्दी कहानी प्रतियोगिता'** में प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ।

'रात बाकी' कहानी लम्बी कहानी है जो बिहार के कैमूर जिले के अन्दरूनी अंचल चैनपुर के आदिवासियों के जन-जीवन, भूमिअधिग्रहण, विस्थापन, सामन्ती व जातीय अत्याचार, प्रशासनिक लूट और भ्रष्टाचार पर आधारित है। मूलत: यह कहानी आदिवासियों के जल, जंगल, जमीन को विकास के नाम पर हथियाने के षडयंत्र को उजागर करती है किन्तु अनेक प्रसंगों में राज्य तथा प्रशासन के खोखले चरित्र तथा सामंती व्यवस्था व शोषकों के प्रति उसकी पक्षधरता को भी दर्शाती है। भूदान आन्दोलन के दौरान भू-स्वामियों व जमीदारों ने जिस चालाकी से अपनी जमीन बचाई उसके रहस्यमय भेद को प्रशासनिक अनुभवों के बल पर लेखक ने उजागर किया है। फाजिल जमीनों पर भूमिपतियों का कब्जा तथा प्रशासनिक महकमों में उनकी पहुँच के कारण ये जमीनें भूमिहीनों को आज तक मुहैय्या नहीं हो पायीं। इसी के साथ ही बड़े-बड़े बांध व जलाशय परियोजनाओं के चलते सैकड़ों आदिवासियों के गाँवों को उजाड़ा जा रहा है, उन्हें उनके जमीनों और निवास स्थलों से विस्थापित किया जा रहा है। जंगलों में वे अपने हकों को लेकर आज भी संघर्षरत हैं। विभिन्न मोर्चा तथा संग्राम समितियां बनाकर ये वनवासी जातियाँ अपने विस्थापन के विरोध में आन्दोलनरत हैं।

'रात बाकी' कहानी के कथा विन्यास में उपरोक्त घटनाओं को बड़े मार्मिक ढंग से समायोजित किया गया है। शुरू से लेकर अन्त तक के घटना प्रसंगों के चित्रण में एक तारतम्यता तथा लयात्मकता विद्यमान है, घटना प्रसंग कहीं खण्डित प्रतीत नहीं होते हैं। भाषा सरल, प्रवाहमय तथा कथा प्रसंग के अंचल विशेष के शब्दों की बहुलता से संपृक्त है या समायोजित है। भाषा अपने बिम्बात्मक क्षमता के कारण घटना प्रसंग को सजीव बनाने में सफल प्रतीत होती है।

यह कहानी कैमूर के अन्दरूनी अंचल चैनपुर के परिदृश्य से संबंधित है। चैनपुर अंचल आदिवासियों, जमीदारों, किसानों, मजदूरों, सवर्ण, पिछड़ी तथा निम्न जातियों के आबादी को अपने में समाहित किए हुए है। कहानी के केन्द्र में नरेन्द्र, दीपा, पुष्पा व रामावतार सिंह ऐसे पात्र हैं जिनके इर्द-गिर्द ही घटनाएँ गतिशील हैं। कहानी की शुरूआत चैनपुर अंचल के एक ब्लाक के सरकारी आवास कॉलोनी में ए.एस.पी. सिद्धार्थ व उसकी पत्नी दीपा के आगमन से होती है। यह कॉलोनी मुख्यत: सरकारी अफसरों. डॉक्टरों व कर्मचारियों से संबंधित है जिसमें दीपा के आने का बड़ा ठंड़ा स्वागत किया गया। कॉलोनी में अचानक भूकम्प तब आता है जब दीपा उस सामंती परिवेश में सांस लेती कॉलोनी में मर्दों के साथ बैडमिंटन खेलने कोर्ट में पहुँचती है। जेएनयू से संबंध रखने वाली दीपा का परिचय कोर्ट में ही युवा सी.ओ. नरेन्द्र से होता है, दोनों की जान-पहचान रोज की चाय-मुलाकातों में बदल जाती है। दीपा के पति सिद्धार्थ (ए.एस.पी.) नरेन्द्र के सीनियर अधिकारी है। चाय-मीटिंग पर ही नरेन्द्र का परिचय जेएनयू के जीवेश और ऋषभ तथा चेरो

जनजाति के प्रधान रामावतार सिंह की बेटी पुष्पा से होता है। पुष्पा की नुकीली नाक, सांवला रंग तथा सामान्य कद-काठी नरेन्द्र को आकर्षक लगता है।

दुर्गावती बांध परियोजना से तेरह गाँव डूब के क्षेत्र में पड़ रहे थे जिनके बासिन्दों को आस-पास के प्रखण्डों में पुनर्वास हेतु भूमि उपलब्ध कराने की मांग थी। ग्रामवासियों की बड़ी रैली पुष्पा के नेतृत्व में अपनी मांगों को लेकर निकाली गई। पुनर्वास हेतु फाजिल जमीनों की तलाश करना प्रशासनिक अधिकारियों की जिम्मेवारी थी जिसके लिए नरेन्द्र कोशिश कर रहे थे किन्तु अचानक एडिशनल कलेक्टर का फोन आता है और सीनियर अफसर की डांट सुनने के लिए वे खड़े होते हैं। सरकारी काम-काज में सीनियर जुनियर का बड़ा चक्कर होता है। एक फाइल कई पदों से होकर गुजरती है जिससे कहीं न कहीं पेंच फँस ही जाता है। कौन अधिकारी उस काम को करना चाहता है और कौन नहीं तथा किसकी असहमति है आदि बातें होती हैं जिन पर ध्यान देना होता है। इसी तरह आपरेशन पुनर्वास को कुछ अधिकारी सफल करना चाहते थे और कुछ नहीं।

इधर डैम साइट पर किसान संग्राम समिति, विस्थापन विरोधी मोर्चा तथा अन्य संगठनों के नेतृत्व में पचासों गाँवों के लोग अपनी माँगों को लेकर धरना प्रदर्शन कर रहे थे। चेरो प्रधान रामावतार की अगुआई में सारे गाँव के लोग डैम को घेर कर बैठे हुए थे, नरेन्द्र तथा अन्य सरकारी अधिकारियों के द्वारा गाँव के लोगों को पुनर्वास के पैकेज का आस्वासन दिया गया, पुनर्वास के प्रस्ताव को किसानों के साथ बैठक में मंजूरी मिलती है। उसी रात को विधायक के यहाँ से नरेन्द्र की पोस्टिंग का नोटिफिकेशन आ जाता है। अब पुनर्वास आपरेशन अधर में लटक गया, अंचल के सारे आला-अफसरों का रीलिविंग आर्डर आ गया। राघवेन्द्र प्रताप सिंह ने ऊपर से दबाव लगवाकर यह सब प्रबंध किया था। उसने अपनी जमीन में बन रही पुनर्वास कॉलोनियों को तत्काल खाली करने के लिए पलामू से सनलाइट सेना मंगवाया है। राघवेन्द्र के दबाव में आकर पंचायत-भवन में नरेन्द्र की मीटिंग होती है और नरेन्द्र के सुझावों को राघवेन्द्र मान लेता है। किन्तु अब पुनर्वास की जगह उन किसान, आदिवासियों को धोखा दिया गया, नौकरशाही पर भरोसा करके गाँववासियों ने सबसे बड़ी गलती की, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें अपनी जान गंवानी पड़ी। सवर्णों ने हिंसक आक्रमण कर, आदिवासियों की बस्तियों में आग लगा दी, बच्चों, बूढ़ी औरतों को जला दिया, तलवार-गड़ासे, चाकू-रायफल सब चले। उनकी पुनर्वास की आस पूरी न हुई कि उसके पहले ही हिंसक दरिंदों ने मौत की नींद सुला दिया। पुष्पा का शरीर पूरी तरह से जख्मी हो गया। दिन में ही इतना क्रूर, हिंसक अत्याचार हुआ जिसकी रात बाकी थी।

इस प्रकार रात बाकी कहानी अपने कथा के अंत में कई घटनाओं की संभावनाओं के अंश को बाकी छोड़ देती है जहाँ से कई कहानियों के उदय की पृष्ठभूमि मौजूद है।

रणेन्द्र की दूसरी कहानी **'वह बस धूल थी'** जो उराँव आदिवासी समुदाय पर लिखी गयी है जिसमें मुख्य पात्र एक सोमा नामक उराँव लड़की है। यह कहानी आदिवासी स्त्री के संघर्षों को दर्शाती है। साथ ही साथ रणेन्द्र ने इस कहानी में आदिवासियों के जीवन के कई पक्षों सामाजिक-सांस्कृतिक आदि को सामने

रखा है। सोमा आदिवासी लड़की एक गैर आदिवासी लड़के के साथ ब्याह रचाती है और फिर जैसा कि वर्तमान समय में हो रहा है आदिवासियों के साथ, वही सोमा के साथ भी होता है, आखिर उससे सोमा कैसे बच जाती। वह दोनों आदिवासी समुदाय के विकास की योजना बनाते हैं, लोगों की सहायता से स्कूल खोलते हैं और इसके साथ ही एक सेवा संस्थान भी खोलते हैं अपनों के लिए। इस कहानी में अचानक तब मोड़ आ जाता है जब गोविन्दपुर में एक ऊंचे उराँव खानदान के बी.डी.ओ. का ट्रांस्फर होता है। सोमा के पति और भाई को नक्सली बोलकर मार दिया जाता है । गर्भवती सोमा को सास-ससुर उसके मायके डाल जाते हैं साथ में उसे एक चेतावनी भी देते हैं कि अब अगर वहाँ दिखी तो ठीक न होगा।

इस कहानी में रणेन्द्र ने आदिवासी समाज की एक और समस्या को उठाया है। जैसा कि विदित है कि विवाह को वैधानिक रूप देने के लिए विवाह का रजिस्ट्रेशन कराना पड़ता है। यह नियम अब सरकार ने प्रत्येक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के लिए अनिवार्य कर दिया है। फिर भी आदिवासी समाज के लोग और मुख्यधारा के समाज के पिछड़े व गाँवों में रहने वाले लोग आज भी इस नियम को अपने जीवन में लागू नहीं करते वे अपने ही समाज की रीति-रीवाजों के अनुसार विवाह कर लेते हैं, और बाद में उसका रजिस्ट्रेशन नहीं कराते। जिसका उनके कोई प्रमाण भी नहीं होता है। इसका ये लोग आये-दिन खामियाजा भुगतते हैं। इसी तरह की परेशानी से सोमा घिरी हुई है। सोमा के पति के मर जाने के बाद उसकी संस्था, घर, जमीन, मुआवजा, नौकरी आदि सब कुछ उसके हाथ से निकल जाता है। सोमनाथ का पिता रामाशीष झा यह साबित कर देता है कि उसका विवाह ही वैध नहीं तो वह उसके मृतक पुत्र की उत्ताधिकारिणी कैसे?

इसके साथ ही रणेन्द्र ने एक और प्रश्न सामने रखा है कि सत्ताधारी लोग किसी के भी नहीं होते। वह अपना पेट भरने के सिवाय दूसरों को नहीं देखते। घूसखोर, लम्पट सिर्फ मुख्यधारा के लोगों में ही नहीं होते हैं बल्कि यह उराँव जनजाति के लोगों में भी है। वहाँ के बी.डी.ओ. अनिल लकड़ा को एक उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है। सत्ता की कुर्सी पर जो बैठता है वह वैसा ही हो जाता है फिर क्या अपने और क्या पराये।

आदिवासी समाज में स्त्री की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण होती है। देखा जाय तो इस कहानी में एक तरह से उराँव जनजाति की सभ्यता और संस्कृति का आधार स्त्री को माना गया है। इसीलिए रणेन्द्र ने सोमा के मरने की स्थिति को उराँव जनजाति की संस्कृति, सभ्यता खत्म होने की तरफ इशारा किया है। वह लिखते हैं – ''सोमा कुजूर...एक आदिवासी स्त्री...एक संस्कृति...एक आदिम सभ्यता...खत्म हो गई जैसे... रेड इण्डियन्स... जैसे डोडो पक्षी... जैसे एक नदी।''[11]

रणेन्द्र की तीसरी लम्बी कहानी **'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ'** भी आदिवासी जीवन पर आधारित है। यह कहानी आदिवासी स्त्री चेतना की कहानी है। इस कहानी में दो कहानियां साथ में ही चलती हैं। एक सरस्वती बागे की तथा दूसरी लाठी सिंह की। लाठी सिंह जिसे बचपन में अपनी सौतेली माँ से नफरत हो जाती है। दरोगा बनने के बाद वह नफरत उस पर तक इतना हावी हो जाती है कि हर स्त्री में उसे

अपनी सौतेली माँ ही दिखती है। लाठी सिंह बचपन में छोटा होने के कारण अपनी सौतेली माँ पर विरोध नहीं प्रकट कर पाया था। यही बात उसके हृदय में घर कर गयी थी और बड़े होने पर उसको प्रत्येक स्त्री में उसकी माँ नजर आती है। लाठी सिंह अपनी माँ को देखकर बचपन में किये गये अपने ऊपर शोषण को यादकर बदला लेने पर उतारू हो जाता। हद तो तब हो गई जब सरस्वती के भाई पर नक्सली होने का फर्जी आरोप लगाकर इन्काउंटर कर दिया जाता है। इसके साथ ही सरस्वती को थाने में उठाकर उसका सामूहिक बलात्कार किया जाता है। लाठी सिंह सरस्वती को सामने देख अपनी मानवीयता की केंचुल उठाकर फेंक देता है और उसे इतना मारता है कि उसके कमर की हड्डी टूट जाती है। सरस्वती पर **'पोटा'** का फर्जी केस लगाकर जेल मे डाल देता है। वहाँ का जेलर भी सरस्वती के साथ बलात्कार करता है। उस समय सरस्वती को महसूस होता है कि जैसे कोई अजगर कुण्डली मारकर उसे निगल रहा हो, और सिर्फ उसे ही नहीं बल्कि पूरी स्त्री जाति को नगल रहा है। इतना जुल्म ढाया गया सरस्वती पर कि उसका शरीर पूरी तरह से लकवा मार गया। इसके बाद **'आखिल भारतीय पोटा हटाओ मंच'** के एक रिपोर्ट की वजह से सरकार ने सरस्वती जैसे तमाम लोगों को, जिन पर 'पोटा' का फर्जी केस किया गया था। उन पर से 'पोटा' का केस हटाकर उनको रिहा कर दिया जाता है।

इस अवसर पर मंच के लोगों ने रिहा किये गये लोगों के सम्मान हेतु राजधानी में एक संगोष्ठी का आयोजन करते हैं। इस संगोष्ठी में सरस्वती तो नहीं जाती, उसके आजा कुछ आश लगाकर जाते हैं कि लाठी सिंह के खिलाफ ये लोग कुछ कार्यवाही जरूर करेंगे। वहाँ भी सिवाय एक चादर और एक फूलों की माला के कुछ नहीं मिलता। केवल निराशा ही हाथ लगती है। उस संगोष्ठी में लोग रस ले-लेकर तालियाँ बजाते जिसे सुनकर सरस्वती के सुखावन पर झपटे कौवे उड़ जाते हैं। उन बुद्धिजीवियों से ज्यादा तो ये कौवे संवेदनशील थे। यह लोग अपनी तालियों से सिर्फ कौवे उड़ा सकते हैं सरस्वती जैसे लोगों को न्याय नहीं। इसीलिए सरस्वती अब गाछ की टहनियों में बदल रही थी जिससे हजारों-लाखों धनुष बनने की कल्पना भी स्त्रियों के द्वारा सूक्ष्म विद्रोह को दर्शाती है। यह कल्पना अपने को बुद्धिजीवी कहने वाले लोगों को मुँह चिढ़ाती जान पड़ती है।

इसके अलावा इस संग्रह में गैर-आदिवासी जीवन पर लिखी कहानियां भी हैं, जिनमें **'ठीक बा नू, सायराबानू', 'जल रहे हैं हरसिंगार', 'बारिश में भीगती गौरैया'** तथा **'रफीक भाई को समझाइए'** हैं। **'ठीक बा नू, सायराबानू'** एक प्रेमकहानी है। जिसमें यह दिखाया गया है कि पुराने प्रेमी कैसे हुआ करते थे। लेकिन यह कहानी भाव और शिल्प के स्तर पर अपने लक्ष्य से भटकी जान पड़ती है। 'जल रहे हैं हरसिंगार' कहानी एक मध्यवर्गीय परिवार की कहानी है। रंजीत दरोगा और उसकी पत्नी दोनों प्रेमविवाह करते हैं लेकिन पत्नी के मांगों को पूरा करते-करते हरसिंगार के फूल कब जल गये थे पता ही न चला था। रंजीत दरोगा के अन्दर संवेदना पैसों के लालच में मर चुकी थी। यहाँ लेखक यह संदेश देना चाहता है कि जब कोई इंसान पैसे का ज्यादा लालच रखता है तो उसके हृदय में रिश्तों की कोई संवेदना नहीं रह जाती। वह सब

कुछ पैसों को ही समझने लगता है। **'बारिश में भीगती गौरैया'** कहानी भी भाव और शिल्प के स्तर पर अपने लक्ष्य से भटक गई प्रतीत होती है। लेकिन **'रफीक भाई को समझाइए'** कहानी एक बेजोड़ कहानी है जो रणेन्द्र को एक सक्षम कहानीकार सिद्ध भी करती है परन्तु उनसे और बेहतर कहानी रचने की अपेक्षा है।

कुल मिलाकर इस संग्रह कि कहानियां बिहार और झारखण्ड की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं, जहाँ व्यवस्था यानी पुलिस, प्रशासन तथा नेता की क्रूरताएं कुछ अधिक ही दिखती हैं। इन कहानियों में भी ये क्रूरताएं काफी मात्रा में दिखाई देती हैं। किसी को नक्सलवादी बताकर मार देने, तो किसी पर **'पोटा'** लगाकर जेल में डाल देने की घटनाओं के साथ-साथ औरतों को सताने की अनेक घटनाओं का वर्णन इन कहानियों में हैं। पुष्पा, सोमा, सरस्वती, पद्मजा जैसी स्त्रियों की दुर्दशा देखकर तो सरकारी तंत्र से घृणा होने लगती है।

रणेन्द्र की कहानियां हमें दिखाती हैं कि समाज की समस्याएं अभी खत्म नहीं हुई हैं। आदिवासी और दलित मुद्दों पर अभी और लिखने की जरूरत है। आदिवासी, दलित और स्त्री सामाजिक, राजनीतिक, प्रशासनिक व्यवस्था की चक्की के नीचे पीसे जा रहे हैं। इसलिए इन सभी मुद्दों को रणेन्द्र ने अपनी कहानियों में समेटा है।

किसी भी रचनाकार को समकालीन बनने के लिए जो अपेक्षित आवश्यकताएँ होती हैं, वे हैं – (1) शोध की गहन प्रवृत्ति, (2) लोक-कथाओं में सृजनात्मक-प्रयोग तथा (3) बोल-चाल की भाषा का रचनात्मक रूप। ये तीनों बिन्दु रणेन्द्र की कहानियों का वैशिष्ट्य हैं। साथ ही रणेन्द्र को अन्य रचनाकरों से अलग खड़ा करने के मौजूदा आधार बिन्दु भी हैं। इसलिए उनकी कहानियों के संदर्भ में आलोचक **राजीव कुमार** लिखते हैं – ''रणेन्द्र की कहानियों से गुजरने के पश्चात् इनकी तीन विशेषताएं अनायास ही हमारा ध्यान खींचती हैं – शोध की गहन प्रवृत्ति, लोक-कथाओं में सृजनात्मक प्रयोग तथा बोल-चाल की भाषा का रचनात्मक रूप।''[12]

'रात बाकी' कहानी में एक पात्र अपनी भाषा में कहता है – ''का सोच रहे हैं सी.ए. साहब? बसी मत सोचिए। छोटा भाई हैं इसलिए समझा रहा हूँ। ई कम्युनिस्टवा डी.डी.सी. बहुत दुलार देखाते हैं। उनके बहकावे में भी नहीं पड़ना है। ई लोग का हैं मिसिर बाबा के लिए, बस हलुआ। एक कौर में गड़प। जब चाहे तब ट्रांसफर आर्डर हाथ में। आप अपने बारे में सोचिए। आपके लिए भी ठेठ जंगली इलाका चुना रहा है।''[13] इसी कारण से इनकी कहानियां लिखने के लिए लिखी गई नहीं जान पड़ती हैं। संवादधर्मिता इनकी कहानियों का वैशिष्ट्य है।

रणेन्द्र की कहानियों की एक बात यह है कि, सामान्य 'जन' पर कहानियां लिखने के बावजूद रणेन्द्र ने इन कहानियों को जनवादी ढंग से दूर रखा है। हालांकि विरोध इन कहानियों में भी है लेकिन बहुत ही सूक्ष्म रूप में। 'रात बाकी' कहानी को ही ले लें। इस कहानी की पुष्पा के द्वारा पच्च से थूकने की आवाज सूक्ष्म विद्रोह को दर्शाती है। 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ' कहानी में सरस्वती के गाछ की टहनियों में परिवर्तित हो जाने से और उससे हजारों-लाखों की संख्या में धनुष बनने की कल्पना भी इसी सूक्ष्म विरोध को

दर्शाती है। दूसरी तरफ ऐसा ही विरोध 'ठीक बा नू, सायराबानू' में पद्मजा अपने पुराने प्रेमी, जो बाद में विधायक राजेश्वर के नाम से जाने जाते हैं। पद्मजा उससे अपमानित होकर कुछ कर तो नहीं पाती है लेकिन उसके हाव-भाव से पता चलता है कि उसके मन में राजेश्वर के प्रति कितनी घृणा भरी हुई है। रणेन्द्र की इन सारी कहानियों में मुख्यधारा के लोगों के द्वारा किये गये आदिवासी समाज का शोषण और उसकी त्रासदी को उकेरा गया है। इनकी ये कहानियां 'ग्लोबल देवताओं' और उनके दलालों के खिलाफ खड़े हो रहे आदिवासियों के साथ होने को ललकारती हैं। हमसे सभ्यवर्गीय और श्रेष्ठता के मुखौटे की आड़ में छिपी अवसरवादिता को त्यागने की अपील करती हैं। इसलिए इनकी कहानियों से गुजरने के बाद **'ग्लोबल गाँव के देवता'** उपन्यास इसी क्रम में रची गई एक लंबी कहानी मालूम होती है।

कविताएं

आज आदिवासी साहित्यकारों की संख्या हिन्दी साहित्य में कम नहीं हैं। विभिन्न साहित्यिक विधाओं में वे पूरे तेवर के साथ लिख रहे हैं। कविता के क्षेत्र में **हरिराम मीणा** कृत **'सुबह के इंतजार में', ग्रेस कुजूर** कृत **'न छोड़ो प्रकृति को', 'अब कहाँ है अखरा'** तथा **भोगला सोरेन** कृत **'अगर हम न मिले तो खोज लेना मुझे'** आदि हैं। इसके अलावा गैर-आदिवासियों में भी कुछ लोग कविताएं लिख रहे हैं, उनमें **रणेन्द्र** भी आदिवासियों के जन-जीवन, उनकी समस्याओं, संघर्षों तथा उनकी संस्कृति पर लिखकर एक कवि के रूप में अपनी पहचान बना रहे हैं।

जब हम कविता के विश्लेषण की बात करते हैं तो मुझे लगता है कि कविता में मुख्य रूप से चार तत्व होते हैं। स्रोत, शब्द, शिल्प और संदेश। 'स्रोत' से तात्पर्य जीवनानुभव की उस जमीन से है जहाँ से कविता उपजती है। 'स्रोत' या जमीन कविता के होने की पहली आवश्यकता होती है। निश्चित रूप से कविता की अभिव्यक्ति भाषा के स्तर पर ही संभव है जिसे हम 'शब्द' तत्व कहते हैं। कविता की तीसरी आवश्यकता 'शिल्प' है, जो कविता को सुन्दर, प्रभावी, सम्प्रेषणीय और हृदय को स्पर्श करने वाली बनाता है। कविता के अन्तिम तत्व के रूप में हम 'सन्देश' को पाते हैं। जिसका अर्थ नारेबाजी, नीति-पाठ या प्रवचन देने से कतई नहीं है। कवि अपनी कविता से बेहतर भविष्य के लिए किस तरह से पाठकों को विषय विशेष से जोड़ने की स्थिति में हो पाता है – इस उद्देश्य से है। इस संबंध में **हरिराम मीणा** लिखते हैं – ''संदेश-विहीन और निर्लक्ष्य कविता बांझ रचना होगी। फिर आप स्वांत: सुखाय: रचते रहिये। दुनियादारी से ऐसी कविता का कोई वास्ता नहीं होता। कविता मात्र मनोरंजन भी नहीं। इसलिए शक्तिशाली कविता आत्मालाप और मनोरंजन से आगे ले जाती है जहाँ वह मानव, मानवेतर प्राणी जगत और प्रकृति से बनी सृष्टि को अभिव्यक्त भी करती है और इनके माध्य और स्वतंत्र रूप से इनके कल्याण के लिए कल्पना और प्रेरणा का काम भी करती है।''[14]

इस दृष्टि से आदिवासी जीवन की कविताओं का विश्लेषण किया जायेगा तो कविता के लिए आदिवासी जीवन का गहन अनुभव, विषयानुरूप भाषा का मुहावरा, सम्प्रेषणीयता और प्रकृति तथा मानवता

के दु:ख-सुख में शामिल होने की प्रेरणा आदि की बात सामने आयेगी। एक अच्छे रचनाकार की कविताओं में हमें ये सारे गुण देखने को मिलते हैं।

अब सवाल उठता है कि क्या रणेन्द्र अपनी कविताओं में इन सारी बातों को समेट पाये हैं या नहीं? जबकि रणेन्द्र ने आदिवासियों के बीच रहकर झारखण्डी समूहों के सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को बहुत ही नजदीक से देखा है। आदिवासियों के साथ उनका रागात्मक संबंध रहा है। उनके जीवन संघर्षों में वे सहभागी भी रहे हैं। रणेन्द्र ने कथाकार के रूप में जो उपन्यास और कहानियां लिखी हैं, उसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ कविताएं भी रचीं हैं, जो **'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ'** में संकलित हैं।

थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ

रणेन्द्र का कविता संग्रह **'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ'** 2010 ई. में शिल्पायन प्रकाशन से प्रकाशित हुआ है। रणेन्द्र ने अपने कथा-साहित्य की तरह ही कविताओं में भी आदिवासी जनजीवन के सामाजिक, सांस्कृतिक स्वरूप की झाँकी दिखलाई है। उन्होंने इन कविताओं में आदिवासियों के दु:खमय जीवन को वाणी दिया है। उनकी एक कविता 'किशना बिरहोड़ की स्मृति' में यह रूप इस प्रकार दिखाई देता है –

''कौन जाने उसके बिरडोह टंडा में,
बसंत आता था या नहीं,
अकाल मृत्यु आ ही जाती अक्सर
कई-कई रूप धरकर।''[15]

साथ ही साथ वह दु:खमय जीवन में भी आशा की किरणों की कोपलें फूटते दिखाते हैं। जैसे –

''नवोदित सूर्य के प्याले में
कूँची डुबोकर
सुनहरा रंगेगी सारा आकाश
चाँद को मुठ्ठी से निचोड़
दूधिया कर देगी सातों समुद्र सप्तर्षि के छत्ते से
शहद चुआ कर
मीठा बनायेगी नदियों का पानी
हरे होंगे सारे ठूँठ
पकेगा सपनों का लाल-लाल फल''[16]

'जामुनी रंग' नामक कविता में रणेन्द्र ने आदिवासी स्त्री के श्रम के सौन्दर्य का चित्रण किया है। कवि को जामुनी रंग बहुत पसन्द है। जामुनी श्रमशील आदिवासी स्त्री का रंग है। दिन भर धूप में पसीने से

लथपथ आदिवासी स्त्री बिना रुके काम करती रहती है। उसकी सुन्दरता को श्रम ने और बढ़ा दिया है। जो कवि मन को आकर्षित कर रहा है। कवि ने श्रमशील आदिवासी स्त्री का सौन्दर्य वर्णन इस प्रकार किया है –

''श्रम ने कसा था
जिनका अंग-अंग
धूम ने भरा था
जामुनी रंग
रूप पर पसीने की लड़ियाँ
पारदर्शी मोतियों की
गहने की कड़ियाँ
पर सच है
सब पर भारी था
हाय! वह जामुनी रंग''[17]

रणेन्द्र ने आदिवासी जन-जीवन की सांस्कृतिक भूमि को मुख्यधारा के लोगों द्वारा प्रताड़ित करने की साजिश की ओर भी इंगित किया है। **'अवसान बेला पर'** कविता में कवि रणेन्द्र ने आदिवासी जनजाति के ह्रास का चित्रांकन किया है तथा बताया है कि किस तरह से सरकार विकास के नाम पर उनका विनाश कर रही है। उसी कविता में कवि कहता है –

''दम-दम दमकता है
मुख्यधारा का चमकीला चेहरा, जिसकी
सूर्य की आभा झेल नहीं पा रही
विकलांग हो रही
हमारी पीढ़ी''[18]

आज चकाचौंध की दुनिया में आदिवासी जनजीवन की साँझी संस्कृति को जो खतरा उत्पन्न हो रहा है उसकी ओर कवि इशारा कर रहा है। कवि रणेन्द्र की रागात्मक सहानुभूति उन तमाम मजदूरों के प्रति भी है। दु:खमय जीवन को कवि वाणी दे रहा है। इस कविता के बारे में **मुकुल कुमार** लिखते हैं - ''सुख के कई रंग होते हैं पर दुख का एक ही रंग होता है माटी सा, माटी से उठता ढूह सा, फिर माटी-सा पसर जाता। दुख के मर्म को इस तरह अभिव्यक्त करने की यह दृष्टि ही है कवि की जो 'ऐश्वर्या राय' के 'नौलखा-परिधान' पर 'बूधन बिरजिया' की 'फटी हुई गमछी' को तरजीह देती है।''[19] इन पंक्तियों को देखिए –

''सबको खतरा था
बूधन बिरजिया
उसकी फटी हुई गमछी

और उठी हुई उँगली से''[20]

कवि रणेन्द्र को काव्य-संग्रह की समूची कविताओं में आदिवासी जन-जीवन को सहानुभूतिपरक दृष्टि से चित्रित करने में सफलता हासिल हुई है। मजदूरों के प्रति सहज दुखबोध ही है जो – **'युद्ध'** शीर्षक कविता में कोयला खोदने वाले व ढ़ोने वाले एक मजदूर को वे योद्धा की तरह से देखते हैं इन पंक्तियों में –

''पंजों पर पूरी ताकत समेट
इंच-इंच सरकाता
साइकिल का पहिया
हँफनी से जब
उखड़ने लगती साँस
लकड़ी ओट लगा
बीड़ी फूँकता सुस्ताता
साँसों को थिरकर
आगे, बस आगे बढ़ता जाता
हमारा जनरल-मार्शल
वीर बूधन जवान''[21]

यह कवि के गहन दु:खबोध से उपजी दृष्टि है जो कोयला खोदने व ढोने वाले मजदूर को एक 'वीर योद्धा' के रूप में प्रस्तुत करती है।

इस काव्य-संग्रह की कविताओं में दुखमय स्मृतियाँ, श्रमजीवी युवतियाँ, युद्ध की तरह काम करने वाले मजदूर, चकाचौंध की दुनिया से आहत जन, सपनों में स्वयं को बदला हुआ देखता बच्चा जैसे कई विषय हैं। इन कविताओं के माध्यम से कवि ने आदिवासी जनजीवन पर शहरी सभ्यता के प्रभाव से हुए परिवर्तन की तरफ भी संकेत किया है। आदिवासियों के बदले हुए स्वरूप को वह इन शब्दों में बयान करता है –

''अब वहाँ आकाश नीला नहीं है
न जंगल हरा
न नदियाँ साँवली
न धरती गोरी
बादशाह सलामत ने
खुरच लिए रंग सारे
अब वे
खाकी से रँगेंगे

पूरा कैनवास''[22]

कवि रणेन्द्र ने **'कविता रचती स्त्री'** कविता में अंधेरी कोठरी के सीलन भरे कोने में रहती स्त्री के माध्यम से शोषण की गाथा को वाणी दिया है। उसका शोषण मात्र बाहरी नहीं है। वह तो परिवार के द्वारा किया गया शोषण है। उसके स्वप्न मात्र आँखों की पुतलियों में ही तैरते रहते हैं और घर तथा बच्चे सूखे पत्ते की तरह काँपते रहते हैं। तब वह कलम लेकर अपनी आप बीती कहती है –

''बाहरी के दुर्दान्त
खूँखार भेड़ियों के सामने
प्यारा लगता है
घर का अपना भेड़िया...
रेशम-सी मुलायम देह
परोस
मीठी नींद सुलाती है...
तब खिड़की खोल
डायरी उठाती है
चाँदनी में लोरी की तरह
कविता गुनगुनाती है स्त्री''[23]

रणेन्द्र की ऐसी कविताओं को देखकर **मुकुल कुमार** लिखते हैं – ''रणेन्द्र की इन कविताओं में वह जीवन आया है, जिसकी सिर्फ बात करते अघाते नहीं हैं कविगण और बात-बेबात जिसकी चर्चा करते थकते नहीं आलोचकगण। इसमें आदिवासियों का जामुनी रंग बड़ी ढिठाई से बाँधता है दीठ को और साँवरी का सौन्दर्य उद्वेलित करता है काली रात से कलंक को भी दिठौना-सा धारने को। ये कविताएं **'सलवा जुड़ूम'** के दानवी नायकों की क्रूरता के प्रति आगाह करती हैं कि इन नव 'इदी अमीनों' के फ्रिजरों का एक कोना भी नहीं भरा है / ताजे नरगोश्त से'। **'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ'** शीर्षक है संग्रह का और यह थोड़ा सा स्त्री होना ही पूरा मनुष्य होना है और ये कविताएं पाठकों को इस मनुष्य होने की ओर ले जाने की कोशश करती हैं।''[24]

अन्त में कवि रणेन्द्र की अभिलाषा है कि –

''लेकिन इसी जनम में अपनी
सहज संगति की चाह
पूरी हो कामना अनन्तिम इसीलिए
थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ''[25]

इस तरह से रणेन्द्र ने अपनी कविताओं में आदिवासी जीवन को, उनके सुख-दु:ख को, उनकी संस्कृति पर मंडराते खतरों को, विस्थापन के दर्द को, उनके थकान भरे शरीर को , उनके द्वारा जीवन-यापन के लिए उठाये गये खतरों को, उनकी दिनचर्या को, उनके शोषण के चक्रव्यूह में फंसते जाने की चिंता को, उनकी अपहृत होती बेटियों के कभी न लौटने की चिंता को, उनके द्वारा शोषण के प्रति किये गये संघर्ष को तथा उनके दिन-रात किये गये श्रम आदि को अभिव्यक्ति दी है।

अन्य साहित्यिक कार्य

रणेन्द्र ने तीन मूल रचनाओं के अतिरिक्त संपादन का भी कार्य किया है। जिसमें चार खंडों में संपादित 'झारखंड एन्साइक्लोपीडिया' का विशेष महत्त्व है। इसके बाद जनतांत्रिक व्यवस्था पर आधारित 'पंचायती राज : हाशिये से हुकूमत तक' पुस्तक का स्थान है। इसके साथ ही उन्होंने कई लेख लिखे, जो विशेष महत्वपूर्ण हैं। इन कार्यों और लेखों का जिक्र नीचे किया गया है।

झारखण्ड एन्साइक्लोपीडिया

'झारखण्ड एन्साइक्लोपीडिया' वाणी प्रकाशन दिल्ली से 2008 ई. में प्रकाशित हुआ। इस एन्साइक्लोपीडिया के चार खंड हैं। रणेन्द्र और उनके सहयोगी सुधीर पाल ने इन चार खण्डों का सम्पादन किया है। 'झारखंड एन्साइक्लोपीडिया' में आदिवासियों की गाथा है। इसमें रणेन्द्र ने आदिवासियों की संस्कृति, प्रकृति, जल, जंगल, पहाड़ इन पर हो रहे अन्याय-अत्याचार तथा शोषण का मार्मिक चित्रण किया है।

भारत के इतिहास की पुस्तकों में 'आदिवासी-समाज', 'झारखंड का इतिहास' और उसके जननायक प्राय: अनुपस्थित ही रहे हैं। सरल शब्दों में कहा जाय तो भारत के इतिहास का सामान्य अर्थ इंद्रप्रस्थ से लेकर पाटिलपुत्र तक ही सीमित रह गया है। रणेन्द्र ने ऐसे अनेकों सवालों को उठाया है।

झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड-1

'झारखंड एन्साइक्लोपीडिया' भाग-1 में छोटा नागपुर का इतिहास, संताल परगना का इतिहास, सरायकोला-खारसांवा का इतिहास, सदानों का इतिहास, 1857 और झारखण्ड, भारत छोड़ो आन्दोलन में झारखण्ड, हो परगना, टाना भगत आन्दोलन आदि की विस्तार से चर्चा की गई है तथा साथ ही वहाँ के स्थापत्य, कला एवं पुरातत्व और खड़िया लोक गीतों का भी विस्तार से वर्णन किया गया है। इस खंड में रणेन्द्र जी के तीन लेख हैं। पहला भूमिका के तौर पर 'झारखंडी इतिहास के बारे में', दूसरा 'झारखंड : (मध्यकाल) (1200-1765)' तथा तीसरा लेख 'झारखंड के स्थापत्य' के नाम से है।

'भारत छोड़ो आंदोलन में झारखंड' शीर्षक लेख में लिखा गया है – ''आदिवासियों के प्रारम्भिक आंदोलन ब्रिटिश साम्राज्य के विकास और विस्तार के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप थे। मंडा, मानकी, परगनैत, पाहन, संताल, खोंड, गोंड और पहाड़िया आदिवासियों के आन्दोलन इसी क्रम में थे। फलस्वरूप आदिवासियों को खुश, शांत और नियंत्रित करने के लिए विभिन्न आदिवासी क्षेत्रों में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा अनेक कानून बनाए गए और परिषदें बनाई गईं। आदिवासियों के क्षेत्रों को परिभाषित कर उनके वे क्षेत्र संरक्षित कर दिए गए। इसके बावजूद महाजनों, जमींदारों, पुलिस और अधिकारियों द्वारा आदिवासियों का शोषण जारी रहा। बंगाल, अविभाजित बिहार, उड़ीसा और मुंबई प्रेसीडेंसी में जमींदारी प्रथा और रैयतबाड़ी प्रथा के अंतर्गत आदिवासियों का शोषण हुआ। अविभाजित बिहार और उड़ीसा के आदिवासी क्षेत्रों में खूटकट्टी जमीन का पतन हो गया और आदिवासियों के सम्मुख जीवन यापन की समस्या उत्पन्न हो गई।''[26]

झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड- 2

'झारखंड एन्साइक्लोपीडिया' खंड-2 में 'बिर और बुर, यानी जंगल और पहाड़ के बारे में विस्तृत चर्चा की गयी है। झारखंड का नाम लेते ही हमारी आँखों के सामने प्रकृति के जो रूप दिखाई देते हैं वे यही जंगल और पहाड़ हैं। झारखंड के जन-समुदाय और संस्कृति इन्हीं जंगलों और पहाड़ों में पली-बढ़ी है और आज इस मुकाम तक जा पहुँची है। ये जंगल और पहाड़ इनके आराध्य भी हैं और पालनहार भी। इससे सम्बंधित इसमें मुख्य लेख हैं – 'जटिल भू-आकृति', 'माटी की कहानी', 'नदियाँ-सालों भर पानी की आस', 'वन सम्पदा की अटूट श्रृंखला' तथा 'खनिज जमीन के नीचे खजाना' आदि हैं। इस खंड में **ओंकारनाथ पाण्डेय** ने अपने लेख 'वन सम्पदाओं की अटूट श्रृंखला' में वन सम्पदा के महत्व को रेखांकित करते हुए लिखा है - ''मानव का वनों से संबंध अटूट और इतना पुराना है जितनी पुरानी यह सृष्टि है। सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम वनस्पति का उदय हुआ, तत्पश्चात् मानव का उदय वन में हुआ। मनुष्य का पेड़-पौधों से चोली-दामन का साथ रहा है। वनों के बिना मनुष्य का जीवन संकट में पड़ सकता है। पुरातन सभ्यताओं का अन्त वनों के अन्त के ही साथ हुआ या यूँ कह सकते हैं कि सभ्यताओं को सुरक्षित रखने के लिए वनों का संरक्षण अत्यावश्यक है। वन रूपी सम्पदा के विनाश से बड़े-बड़े भू-क्षेत्र रेगिस्तान में बदल गए हैं। राजस्थान कभी हरा-भरा था लेकिन यह वनों की अंधाधुंध कटाई ही है जिसके कारण आज यहाँ रेगिस्तान बन गया है। यह जानते हुए भी आज का सभ्य मानव इस अमूल्य निधि के बारे में बेखबर है।''[27] जंगल और पहाड़ों के साथ-साथ झारखंड के समस्त भौगोलिक विकास, परिस्थिति-परिवेश की भी चर्चा अपने विषय के विभिन्न विद्वान-विशेषज्ञों ने इस खंड में की है, यथा-झारखंड की भौगोलिक संरचना, नदियाँ और प्रकृति, भूजल और भू-विज्ञान, कोयला और खनिज, कृषि एवं सिंचाई, ऊर्जा परिवहन पथ के साथ-साथ, हाट बाजार और पर्यटन केन्द्र आदि मुद्दों की चर्चा विस्तार से हुई है।

झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड-3

झारखंड सहित देश के अधिकांश आदिवासी बहुल क्षेत्र विकास की पूँजीवादी अवधारणा से उत्पन्न दंश को झेलता रहा है। विस्थापन एवं पलायन विकास के उप-उत्पाद के रूप में सामने आए हैं। नेहरू - वेरियर ऐल्विन के पंचशील सिद्धान्तों से प्रेरित होकर विकास के विभिन्न कार्यक्रम अपनाए गए। उसके कारण सरकारी सेवाओं में कुछ प्रतिशत झारखंडी आबादी भी दिखने लगी है।

खंड-3 में ऐसी ही श्वेत-श्याम तस्वीरें सजाई गई हैं, यथा-विकास रणनीति, स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका, विस्थापन-पलायन-भूमि का अवैध हस्तांतरण, भूख से सुरक्षा, छोटा नागपुर एव संताल परगना की विशिष्ट भू-विधियाँ, शहरी गरीबी, कोयलकारों, नेतरहाट फायरिंग रेंज, जादूगोड़ा, स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता, झारखंड में सिनेमा का विकास, स्त्रियों के हालात और रोजगार के अवसर, झारखंड की राजनीति और मजदूर वर्ग का आंदोलन, झारखंड का भविष्य आदि पहलुओं को इस खंड में समाविष्ट किया गया है।

झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड-4

झारखंड की अपनी विशिष्ट जन-संस्कृति है जो प्रकृति पर विजय नहीं बल्कि उसकी पूजा उसके साथ सामंजस्य स्थापित करती, सामुदायिकता-सामुहिकता पर आधारित, श्रमरस में रची-बसी, उत्सवधर्मी है। व्यक्ति समूह बनाकर ही आनंद का आस्वादन करता है। उत्पादन और आस्वादन दोनों का संबंध समूह से है। प्रकृति और व्यक्ति-चेतना का एकात्म-अंत:स्राव लोक कलाओं में रसानुभूति का संचार करता है।

संस्कृति मनुष्य की वह रचना है जिसमें मानव की सृजनात्मक शक्ति और योग्यता का चरम निहित है। झारखंड एन्साइक्लोपीडिया के इस खंड में झारखंडी लोक-साहित्य, लोक-कला, लोक-संस्कृति आदि के विविधरंगी रूपों से परिचित करवाने का एक विनम्र प्रयास किया गया है। यथा संताली भाषा और साहित्य, कुडुरव भाषा और साहित्य, मुंडारी भाषा और साहित्य, खड़िया भाषा और साहित्य, हो भाषा और साहित्य, कुरमाली भाषा और साहित्य, अंगिक भाषा और साहित्य, खोरठा भाषा और साहित्य, पंचपरगनिया भाषा और साहित्य, नागपुरी भाषा और साहित्य, झारखंड में हिंदी साहित्य, उर्दू साहित्य, बंगला और उड़िया साहित्य, आदिवासियों के सृष्टि विषयक मिथक एवं विश्व तत्व, आदिधर्म : भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाएं, झारखंड के पर्व, नृत्य, वाद्ययंत्र आदि की विस्तार से चर्चा की गई है।

इस खंड में **अशोक सिंह** ने अपने लेख 'संताली संस्कृति' में लिखा है - ''संताल संस्कृति भारत की प्राचीनतम संस्कृति है। यह भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है, जो संताल विशिष्ट परंपराओं के कारण काफी समृद्ध रही है। यह समाज जहाँ अपनी कर्मठता, श्रमशीलता और ईमानदारी तथा शांतिप्रियता के लिए बहुत प्रसिद्ध रहा है, वहीं इसकी परंपरागत सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था बहुत सशक्त और सुव्यवस्थित रही है। हाँ, आर्थिक मामले में यह समाज थोड़ा पिछड़ा और कमजोर जरूर रहा है, लेकिन कला-

संस्कृति के मामले में इस समाज की अपनी एक विशिष्ट पहचान रही है जो अन्य जाति वर्ग समुदाय के लोगों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है।''[28] इसी तरह से इस खंड में बहुत सारे उदाहरण मौजूद हैं जिनके कारण यह खंड कुछ विशिष्ट बन पड़ा है।

पंचायती राज : हाशिये से हुकूमत तक

'पंचायती राज : हाशिये से हुकूमत तक' पुस्तक का सम्पादन **रणेन्द्र** और उनके मित्र **सुधीर पाल** ने मिलकर किया है। मूलत: यह पुस्तक जनतांत्रिक व्यवस्था की स्थापना पर केन्द्रित है, जिसे 73वें संविधान संशोधन अधिनियम 1992 ई. दिनांक 24 अप्रैल को संवैधानिक मंजूरी प्रदान कि गयी थी। जिसमें ग्राम सभा की कल्पना (ग्राम पंचायत), मध्यम (पंचायत समिति) और जिला (जिला परिषद्) त्रिस्तरीय प्रणाली द्वारा की गई है। इस संविधान तथा उसके लागू करने के फायदे-नुकसान को आधार बनाकर यह पुस्तक लिखी गयी है। इसके साथ ही साथ इस पुस्तक में पंचायती राज व्यवस्था के सैद्धान्तिक पहलू, व्यावहारिक कठिनाइयाँ, सत्ता के हस्तान्तरण की वास्तविक स्थिति, आदिवासी स्वाशासन की परम्परा एवं उसकी वर्तमान स्थिति तथा पंचायती राज व्यवस्था के साथ उसके अन्त:सम्बंधों को जानने और समझने का प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक में ग्रामीण अभिशासन, पंचायती राज व्यवस्था पर काम कर रहे बुद्धिजीवियों, सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं शोधार्थियों के आलेखों को समाहित किया गया है। **राजकिशोर** एवं **जार्ज मैथ्यू** ने अपने-अपने ढंग से पंचायती राज व्यवस्था की सत्ता की भागीदारी में आ रही वैधानिक एवं व्यावहारिक कठिनाइयों को सामने रखा है ताकि अड़चनों के समाधान खोजे जा सकें।

मैत्रेयी पुष्पा एवं **सुधीर पाल** ने अपने-अपने ढंग से स्त्रियों की भागीदारी के सवाल को उठाया है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। मैत्रेयी पुष्पा ने व्यंग्यात्मक शैली से सरल और सहज भाव में, दो तीन घटनाओं के सहारे पितृसत्तात्मक समाज के कुरूप चेहरे की ओर इंगित किया है। साथ ही इस तरफ भी संकेत किया कि यही कुरूप चेहरा नारी के सशक्तिकरण के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है। वह लिखती हैं – ''आज हमें बहुत हंसी आई। हमें, मतलब कि गाँव की तमाम स्त्रियों को। देखिये न, समय कहाँ से कहाँ पहुँच गया, गांव-गांव टेलीविजन और टेलीफोन आ गये, मगर हमारे समाज के पुरुषों के दिमाग में अभी भी वही पुराने संस्कारों की बैट्री फिट है। बात तब की है, जब देश के संविधान में पंचायती राज लागू हुआ। भारतीय स्त्री के लिए विधायिका में सदस्य बनने का अनिवार्य रूप से हक आया।...यों तो अब तक स्त्री ने विज्ञान और टेक्नोलॉजी में, कला और साहित्य में न जाने कितनी ऊंचाइयां छुई हैं, लेकिन राजनीति के क्षेत्र में यह उसका पहला कदम माना जाता है।''[29] सुधीर पाल ने अपने विस्तृत आलेख में पंचायती राज संस्थाओं में स्त्री भागीदारी की बन्दिशों एवं बाधाओं का विवरण तो दिया ही है, साथ ही सफलता की भी कहानियां सामने रखी हैं।

जहाँ एक ओर **वीर सिंह सिंकू** एवं **सुनील मिंज** के लेख में हमें झारखंड के विभिन्न आदिवासी समुदाय में स्वशासन की परंपराओं का परिचय मिलता है वहीं दूसरी तरफ **डॉ. रमेश शरण** एवं **नन्दिनी सेन** के शोधपत्रों से उन परंपराओं की वर्तमान स्थिति से हम रू-ब-रू होते हैं। **डॉ. रामदयाल मुंडा** का मानना है कि संसाधनों पर गांव के स्वामित्व एवं प्रबंधन के बिना स्वाशासन व्यवस्था अधूरी है।

चन्दन दत्ता ने ग्राम पंचायत के स्वशासन की इकाइयों की व्यावहारिक कठिनाइयों के निवारण में स्वयंसेवी संगठनों की भूमिका पर प्रकाश डाला है। वहीं **प्रभात दत्ता** ने अपने लेख में पश्चिम बंगाल में पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से हुई ग्रामीण विकास और सशक्तिकरण की पूरी प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। **अगम प्रकाश** ने अपने लेख में ग्राम गणराज्य के वायवीय भावों के बीच उसकी वास्तविक और वैधानिक स्थिति पर उंगली रखते हुए यह प्रमणित किया है कि वास्तव में ये संस्थाएं अधिकार विहीन हैं एवं ये संस्थाएं विकास कार्यों की एजेन्ट मात्र हैं।

डॉ. किरण ने पंचायती राज संस्थाओं की पारदर्शिता एवं सफलता में सामाजिक अंकेक्षण की आवश्यकता की महत्ता को रेखांकित किया है। और **हरेन्द्र** जी ने झारखंड पंचायती राज अधिनियम 2001 ई. में आरक्षण प्रावधानों की व्याख्या की है। **मिथिलेश** ने अपने लेख में इस अधिनियम के गैर अधिसूचित क्षेत्रों पर पड़ने वाले प्रभाव पर रोशनी डाली है। **रणेन्द्र** ने 'ग्राम सभा' से सम्बद्ध अपने लेख में उसके संवैधानिक विकास, केन्द्रीय कानून के परिप्रेक्ष्य में झारखंड, उड़ीसा एवं मध्यप्रदेश के पंचायती राज कानूनों का तुलनात्मक अध्ययन कर लिखा है – ''खासकर झारखंड पंचायत राज अधिनियम 2001, उड़ीसा ग्राम पंचायत (संशोधन) अधनियम, 1997 एवं उड़ीसा विधानमंडल की अधिसूचना संख्या 1084 (30) दिनांक 12.1.99, ग्राम सभा की जिम्मेवारियां और कर्तव्य (जनजातीय क्षेत्र में पंचायती राज नियम संशोधन) का अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि सत्ता में हिस्सेदारी के 'ग्राम सभा' के स्वप्न को या तो विलोपित कर दिया गया है या शक्तियों को खिसका कर ग्राम पंचायत, पंचायत समिति या जिला परिषद् को सौंप दिया गया है।''[30] साथ ही साथ उन्होंने ग्राम सभा के क्रियान्वयन की दिशा में मध्यप्रदेश, पश्चिम बंगाल एवं केरल में हुई कठिनाइयों और सफलताओं को भी सामने रखा है। साथ ही **सी.डी.सिंह** ने झारखंड पंचायत राज ऐक्ट की कमियों और ग्रामीण अभिशासन के सशक्तिकरण के बाधक प्रावधानों को रेखांकित किया है तथा इसमें परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर दिया है। कुछ भी हो यह पुस्तक 1993 ई. के बाद देश में अभिशासन की त्रिस्तरीय व्यवस्था से स्वाशासन तक की प्रक्रिया को गति देने के लिए हो रही जद्दोजहद का पुख्ता दस्तावेज है।

आज-कल विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सामाजिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक मुद्दों पर उनके लेख आये दिन प्रकाशित होते रहते हैं। रणेन्द्र के प्रकाशित लेख महिलाओं की समस्याओं पर और आदिवासियों की समस्याओं पर हैं। महिला समस्या पर उनका लेख **'कब तक अपनी देह शर्म की तरह ओढ़ती रहेंगी?'** बहुत ही चर्चित लेख है जिसमें पितृसत्तात्मक व्यवस्था की साजिशों का यथार्थपरक चित्रण

किया गया है। दूसरी तरफ आदिवासियों के सवालों पर उनका लेख '**आदिवासी : मिथ और यथार्थ**' का साहित्य जगत में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

रचनाकार रणेन्द्र हिन्दी साहित्य के ऐसे मूर्धन्य व्यक्तित्व हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। उनकी रचनाओं में शोषित व मजदूर वर्ग की वकालत, आदिवासी जीवन के विविध आयाम, आदिवासी स्त्रियों के शोषण के प्रति विरोध, आदिवासियों की विस्थापन जैसी भयानक समस्याओं के प्रति कभी न खत्म होने वाला संघर्ष, आदिवासी समाज के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक शोषण के प्रति विद्रोह तथा उसके सभी पहलुओं पर पैनी दृष्टि का दिग्दर्शन होता है। रणेन्द्र की रचनाओं में आदिवासियों पर हो रहे अन्याय के प्रति एक चीख है कि ये अन्याय क्यों?? उनके उपन्यास, कहानियों तथा कविताओं में आदिवासियों के प्रति गढ़े गये मिथकों को तोड़ा गया है। साथ ही साथ उन्होंने आदिवासियों की सभ्यता-संस्कृति पर विस्तार से चर्चा करते हुए उनके संघर्ष को भी महत्व दिया है। वर्तमान समय में पत्र-पत्रिकाओं में सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक मुद्दों पर उनकी लेखनी चलती रहती है। चाहे वह दिल्ली में हुए 'निर्भया गैंग रेप' का मामला हो और चाहे वर्तमान समय में 'स्त्रियों' की सुरक्षा को लेकर चुनौती का प्रश्न हो, इन सारे पक्षों पर उनके विचार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से पाठकों के समक्ष आते रहते हैं। यह बात महत्वपूर्ण तो है ही साथ में उनकी साहित्यिक सक्रियता को भी उजागर करती है। आशा है उनकी धारदार लेखनी आगे बढ़ती रहेगी।

संदर्भ–सूची

1. *सं. – नामवर सिंह* - आलोचना (पत्रिका), अप्रैल–जून, 2011, अंक-41, पृष्ठ संख्या – 22
2. *सं. – कृष्ण किशोर* - अन्यथा (पत्रिका), अंक-16, पृष्ठ संख्या – 61
3. *रणेन्द्र* - ग्लोबल गांव के देवता, पृष्ठ संख्या – 14
4. वही, पृष्ठ संख्या – 43
5. वही, पृष्ठ संख्या – 83
6. वही, पृष्ठ संख्या-13
7. *सं. रमणिका गुप्ता* - आदिवासी विकास से विस्थापन , पृष्ठ संख्या – 74, 48, 72
8. *वासवी* - ताबेन जोम, पृष्ठ संख्या – 26
9. *सं. अविनाश कुमार सिंह* - इस्पातिका (पत्रिका) , (लेख) - प्रो. वीर भारत तलवार पृष्ठ संख्या – 15
10. *रणेन्द्र* - ग्लोबल गांव के देवता , पृष्ठ संख्या – 14
11. *रणेन्द्र* - रात बाकी एवं अन्य कहानियां, पृष्ठ संख्या – 46
12. *सं. – राजेन्द्र यादव* - हंस (पत्रिका), मार्च – 2011, अंक-8, पृष्ठ संख्या – 87
13. *रणेन्द्र* - रात बाकी एवं अन्य कहानियां, पृष्ठ संख्या – 15
14. *सं. – हरिराम मीणा* – समकालीन आदिवासी कविता, पृष्ठ संख्या - 8
15. *रणेन्द्र* - थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ, पृष्ठ संख्या - 10
16. वही, पृष्ठ संख्या – 25
17. वही, पृष्ठ संख्या – 19
18. वही, पृष्ठ संख्या – 22
19. वही, फ्लैप पृष्ठ - 1
20. वही, पृष्ठ संख्या – 12
21. वही, पृष्ठ संख्या – 16
22. वही, पृष्ठ संख्या – 86
23. वही, पृष्ठ संख्या – 80-81
24. वही, फ्लैप पृष्ठ – 1
25. वही, पृष्ठ संख्या – 94
26. *सं. - रणेन्द्र, सुधीर पाल* - झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड-1, पृष्ठ संख्या – 148
27. *सं. - रणेन्द्र, सुधीर पाल* - झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड-2, पृष्ठ संख्या – 85
28. *सं. - रणेन्द्र, सुधीर पाल* - झारखंड एन्साइक्लोपीडिया खंड-4, पृष्ठ संख्या – 146
29. *सं. – सुधीर पाल और रणेन्द्र* - पंचायती राज : हाशिये से हुकूमत तक, पृष्ठ संख्या – 36
30. वही, पृष्ठ संख्या – 112

द्वितीय अध्याय

आदिवासी जीवन का स्वरूप और समस्याएं

(1) आदिवासी जीवन और उसके विविध आयाम

(2) आदिवासी जीवन की समस्याएं

भारत के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में आदिवासी निवास करते हैं। इसलिए भौगोलिक क्षेत्र के आधार पर इनके जीवन के स्वरूप और समस्याओं में कुछ भिन्नताएं और कुछ समानताएं तो होंगी ही। अत: क्षेत्रीयता के आधार पर इनके जीवन के स्वरूप और समस्याओं में भिन्नता और वृहत स्तर पर इनमें समानता दोनों का गहराई से अध्ययन करके ही एक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

आदिवासी जीवन और उसके विविध आयाम

भारत के लगभग प्रत्येक भाग में आदिवासी रह रहे हैं। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार देश में इनकी जनसंख्या 10,42,81034 है। यानी कि देश की कुल जनसंख्या का 8.6 फीसदी हिस्सा आदिवासी समुदाय है। राय बर्मन ने लगभग 427 आदिवासी समुदाय स्वीकार किये हैं। इस तरह विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न आदिवासी समुदाय स्वीकार किये हैं जो अपनी अलग संस्कृति महत्व और पहचान बनाये हुए हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इस समुदाय को विभिन्न नामों जैसे आदिम या आदिवासी (अबोर्जिनल), जनजाति (ट्राइबल), देशज (इण्डिजिनस पीपुल्स), सर्वप्रथम बसने वाले (फर्स्ट सेटलर) आदि से पहचाना है। इस समाज के लोग स्वयं को देशज/आदिवासी कहने में ही गर्व महसूस करते हैं। देशज या आदिवासी शब्द इस समाज की अस्मिता, अस्तित्व, पहचान और चेतना का वाहक है। अब बात आती है कि आदिवासियों के जीवन के विविध आयाम को अभिव्यक्त करने की तो पूरे भारत के आदिवासी समुदायों की जीवन-शैली के बारे में एक अध्याय में बता पाना संभव नहीं है। फिर भी यहां हमने मुख्य क्षेत्रों के आदिवासी समुदायों की जीवन-शैली संक्षेप में व्यक्त करने की कोशिश की है -

(क) असम

2011 की जनगणना के अनुसार असम में जनजातियों कि कुल संख्या 38,84371 है। असम में मुख्य रूप से चार जनजातियां निवास करती हैं - मोनपास (Monpas), मिजिस (Mijis), अकास और खवास (Akas and Khawas) तथा डफलास (Daflas)। मोनपास जनजाति की तीन उपजनजातियां हैं (1) त्वांगपास (Tmangpas), (2) शेरखोपास (Sherschopas), (3) शेरडूपेंस (Sherdupensh)। इसके अलावा संविधान की छठी अनुसूची के उपबंधों के अनुसार संयुक्त खासी, जैंतिया, पहाड़ियों, गारो पहाड़ियों, मिजो पहाड़ियों, उत्तर उचार पहाड़ियों तथा मिकिर पहाड़ियों को आदिम जाति में शामिल किया गया है। असम की जनजातियां स्थानान्तरित कृषि करती हैं जिसे झूम खेती कहा जाता है।

(ख) आंध्र प्रदेश

आंध्र प्रदेश में जो प्रमुख जनजातियां निवास करती हैं उसमें से चेंचुस (Chenchus) मुख्य जनजाति है। यह जनजाति आंध्र प्रदेश के नल्लामलाई इलाके के पहाड़ों तथा वनों में बसते हैं। चेंचुस द्रविड़

मिश्रित तेलुगू भाषा का प्रयोग करते हैं। दूसरी प्रमुख जनजातियां कोंडा रेड्डी, जाटापुस, कोलम, नायकपोड तथा सावरस या सावारस हैं इसके अलावा कोंडा कापूको को भी आंध्रप्रदेश की आदिवासी सूची में शामिल कर लिया गया है। कोंडा रेड्डी जनजाति पूर्वीघाटी के गोदावरी नदी के आस-पास, जाटापुस श्रीकाकुलम जिले के पहाड़ी इलाके में, कोलम आदिलाबाद जिले में तथा आदिलाबाद जिले में ही कोलम समुदाय की एक अन्य उपजाति नायकपोड रहते हैं। कोलम जनजाति गोंडी, नायकपोड कोलमी भाषा बोलती है। आन्ध्रप्रदेश के चेंचु की अर्थव्यवस्था का मुख्य स्रोत है उनके गांव को घेरे हुए जंगल। इनका मुख्य भोजन जड़ें एवं फल होते हैं। वन पदार्थों के अतिरिक्त उन्हें आमदनी होती है वन मजदूरी से। इसके अलावा बांस एवं शहतीर के कारखानों में भी वे काम करते हैं। मछली मारना चेंचु का पहला आर्थिक स्रोत है। दूसरा आर्थिक स्रोत है शैलम जाने वाले तीर्थयात्रियों को घुमाने ले जाना जिससे उन्हें कुछ मिरासी मिल जाती है। ये लोग मधु संग्रह कर भी कुछ आमदनी कर लेते हैं।

(ग) अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश चारों तरफ से पहाड़ियों से घिरा हुआ प्रदेश है। इसकी सीमा उत्तर में तिब्बत, पूर्व में बर्मा तथा पश्चिम में भूटान से लगी हुई है। अरुणाचल प्रदेश में पायी जाने वाली जनजातियों में निशी (Nishis), आपातानी (Apatanis) तथा खोवास (Khovas) हैं। ये सभी जनजातियां मंगोल जाति के सापेक्ष हैं। निशी जनजाति सुबानसिरी जिले के दक्षिण तथा पश्चिम भाग में कोमेंग जिले की पश्चिमी सीमा में, खोवास जनजाति कोमेंग जिले के बोमदिला क्षेत्र में निवास करती हैं। ये सभी जनजातियां तिब्बत-बर्मी भाषा बोलती हैं। अरूणाचल प्रदेश की जनजातियां सूर्य और चाँद की पूजा सबसे बड़े ईश्वर के रूप करती हैं। अरूणाचल प्रदेश के आदिवासी ज्यादातर बौद्ध धर्म को मानने वाले हैं।

(घ) कर्नाटक

राज्य के शिमोगा तथा चिकमंगलूर जिलों में मलेरू (Maleru) नाम की आदिवासी जनसंख्या निवास करती है। यह बहुत छोटी जनजाति है तथा इनकी आर्थिक स्थिति अत्यंत कमजोर है। इन्हीं इलाकों में एक अन्य जाति मालेरू (Maaleru) भी पायी जाती है। इनके बारे में बताया जाता है कि ये ब्राह्मण जाति का मिश्रण है। इस जाति के लोग संपन्न होते हैं तथा मंदिरों में पूजा-पाठ करते हैं।

(ङ) गुजरात

गुजरात में मुख्य जनजाति के रूप में भील पाये जाते हैं। यह जनजाति गुजरात, राजस्थान के सिरोही, उदयपुर, कोटरा, सरसो, दांता, बिलरिया, ईडर, दुसारिया, बावालिया, चन्दोर, कलवन, खैरवाड़ा, डूंगरपुर, बांसावाड़ा, बलतिमोर, कुरनी, सूंथ, लुणावाड़ा, झोलोद आदि क्षेत्रों में निवास करती है। इसी प्रकार

महाराष्ट्र और गुजरात राज्यों के सीमावर्ती जिलों में नायका अथवा नायकड़ा गुजराती भाषा बोलने वाली एक छोटी जनजाति है। गुजरात की खारी जनजाति जो सीमान्त पर रहती है उसका मुख्य पेशा पशुपालन है जिससे उनका जीवन-यापन होता है। गुजरात की धनका जनजाति तदवी और तेतरिया दो वर्गों में विभक्त हैं। ये लोग एक दूसरे के साथ भोजन नहीं करते। तदवी मुसलमान हैं। इनमें बहिर्विवाही कुल होता है। स्थान तथा अन्य बातों में ये बराबर हैं।

(च) महाराष्ट्र

महाराष्ट्र के नंदूरवार, नांदेड़, नासिक, पोंन, खरगना आदि ग्रामीण क्षेत्रों में भील जनजाति निवास करती है। इसके अलावा नाग-विदर्भ क्षेत्र में हल्वा-हल्वी जनजाति अधिकांशत: रहती है। मराठी बोलने वाले मराठिया हल्वा कहे जाते हैं। ये सब पुन: पुरैत या नेखा अर्थात् हल्वा खुरैत या नायक अर्थात मिश्रित हल्वा दो अन्तर्विवाही वर्गों में विभक्त हैं हल्वा में व्यवसायों पर आधारित गोत्रों के तुल्य बहिर्विवाही उपजातियां हैं, जैसी – रावत अर्थात् गड़ेरिया, बरेठा अर्थात् धोबी। एक अन्य उपजनजाति धोबा भी पायी जाती है। नाग-विदर्भ क्षेत्र पहले मध्यप्रदेश का हिस्सा था लेकिन 1956 ई. में राज्यों के पुनर्गठन के दौरान यह क्षेत्र बम्बई प्रांत में हस्तांतरित कर दिया गया। एक और जनजाति महादेव कोली महाराष्ट्र के कुछ हिस्से में पायी जाती है लेकिन इनकी संख्या बहुत ही कम है।

(छ) राजस्थान

वर्तमान समय में भील जनजाति का निवास स्थान राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश तथा महाराष्ट्र राज्यों में सीमित है। इस प्रकार चारों राज्यों में जनसंख्या की दृष्टि से भारत की अनुसूचित जनजातियों में भीलों का प्रथम स्थान है। भीलों की भाषा पर राजस्थानी भाषा का बहुत प्रभाव है। इसके अलावा राजस्थान में खारी जनजाति भी है जो राजस्थान के सीमान्त पर निवास करती है। इनका मुख्य पेशा है गाय, बकरी, भेड़ तथा विशेषकर ऊंट पालना। ये लोग वर्ष के दो तिहाई समय में इन मवेशियों के लिए चारा ढूँढ़ने में व्यतीत करते हैं तथा दूध एवं उससे बनी सामग्री और ऊन की बिक्री कर पैसा कमाते हैं। इसके अलावा कलबेला जनजाति के लोग सँपेरों के रूप में जाने जाते हैं। इनके भी जीवन-यापन के विभिन्न साधन हैं लेकिन मुख्य रूप से ये लोग सांपों को अपने वश में करने और नाच-गाना एवं जादुई कार्य दिखलाते हैं।

(ज) उड़ीसा

इस राज्य में एक तिहाई जनसंख्या आदिवासियों की है। राज्य में कोरापुट, मयूरभंज, सुन्दरगढ़, गंजाम तथा बौध खोंडपल्ल का कुछ हिस्सा भी आदिवासी क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। इस राज्य में आदिवासियों की 62 जातियां पायी जाती हैं। उड़ीसा राज्य में सबसे ज्यादा संख्या खोण्ड जनजाति की पायी

जाती है। इनमें तीन क्षेत्रीय शाखाएं पायी जाती हैं – डोंगरिया खोण्ड (वन), देस्या खोण्ड तथा कुट्टिया (पहाड़) खोण्ड। एक अन्य जनजाति सावरा की विस्तृत इकाई बरिन्दर है, जिसमें कई परिवार सम्मिलित रहते हैं। सावरा जनजाति के लिए बरिन्दर इकाई वंश के समान ही बहुत महत्वपूर्ण होती है। इनके यहां ग्राम की संरचना कई बरिन्दर इकाईयों से बनी होती है, जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को क्रियाशील बनाती है। इसके बाद दूसरी उच्च इकाई व्यावसायिक एवं क्षेत्रीय प्रकृति की हैं यह जनजाति 17 अन्तर्विवाही वर्गों में विभक्त है। कोरपुट तथा कालाहांडी जिलों में मुख्य रूप से निवास करने वाली भोत्तारा या भोटडा जनजति है। ये जनजाति बोडो एवं सोना दो अन्तर्विवाही शाखाओं में बंटी हुई है और फिर अनेक बहिर्विवाही टोटमिक गोत्रों में। उड़ीसा में रहने वाले आदिवासियों का आर्थिक स्रोत पहाड़ी खेती और मजदूरी है। उड़ीसा की खोण्ड जनजाति पृथ्वी, सूर्य, अग्नि एवं जल के देवों की अलौकिकता पर विश्वास करती हैं।

(झ) नागालैण्ड

नागालैण्ड के अधिकांश भागों में नागा समूह की जनजाति निवास करती हैं। इन जनजातियों में कई उपजनजातियाँ जैसे-जेभी नागा, काचा नागाओं की एक उप-जनजाति है। नागालैण्ड के मोन्गसेन तथा चुन्गली दो मुख्य जनजातियां हैं जो दो मुख्य शाखाओं में विभक्त हैं। नागालैण्ड की जनजाति भी झूम खेती करती है। आज नागालैण्ड की नागा जनजाति विभिन्न सरकारी पदों पर आसीन हैं। इसके साथ ही नागा जनजाति में 'मिथन' त्यौहार मनाया जाता है जो पूर्ण रूप से पूर्वजों की जीवात्माओं को समर्पित किया जाता है। इस त्यौहार में मृतक की संतुष्टि एवं अपनी उन्नति के लिए मृत पूर्वज के नाम से एक मिथन (पशु) की बलि दी जाती है।

(ञ) मिजोरम

मिजोरम में जनजातियों की कुल जनसंख्या 10,36115 पायी जाती है। मिजोरम की प्रमुख जनजाति मिजो जनजाति है, जो अनेक उप-जनजातियों में विभक्त है। उनमें प्रमुख हैं - लुसेई, राल्ते, प्लार तथा पावी। उदाहरणार्थ लुसई में शेखुम सैयली तथा हनहनार गोत्र तथा राल्ते में कबल्नी, लेल्डच्चुन, सायकेना गोत्र हैं। इनके गोत्र अन्तर्विवाही होते हैं। दक्षिणी मिजोरम में एक अन्य जनजाति है जिसे लेखर कहते हैं, जो छ: क्षेत्रीय समूहों में बंटी हुई है – प्लोनगसाई, ज्यूहनाग, सबेड, हउथाई, लियाजाई तथा हयमा। इसके अलावा यह अनेक गोत्रों में बंटी हुई है। कुकी जनजाति मणिपुर में निवास करती है। ये पांच गोत्रों में विभक्त हैं तथा चौदह उपगोत्र पाये जाते हैं। हर एक उपगोत्र में दीपा होता है जो इस समूह का मुखिया होता है। यह एक महत्वपूर्ण सामाजिक और धार्मिक पद है। दीपा का सबसे बड़ा लड़का उस पद का उत्तराधिकारी होता है। इनका आर्थिक स्रोत (पहाड़ी) खेती करना है जिसे ये लोग झूमी खेती कहते हैं।

(ट) झारखंड

झारखंड में जनजातियों की संख्या 32 पायी जाती है जिनमें से आठ की पहचान आदिम जनजाति के रूप में की गई है। 2011 की जनगणना के अनुसार झारखंड के जनजातियों की कुल जनसंख्या 86,45042 है, जो कुल आबादी के 26.2% है। झारखंड की प्रमुख जनजातियों में संथाल, उरांव, मुंडा, हो, खरवार, खड़िया और भूमिज हैं। आदिम जनजातियों में असुर, बिरजिया, बिरहोर, कोरवा, माल-पहाड़िया, पहरिया, सौरिया पहाड़िया, और शबर हैं। प्राय: ये सभी जातियां पहाड़ी-जंगली व दुर्गम क्षेत्र में रहते हैं। इन जनजातियों की भाषा को दो वर्गों में बांटा गया है एक आस्ट्रिक दूसरा द्रविड़ियन। ये जनजातियाँ कुछ ईसाई धर्म को, तो कुछ इस्लाम को, कुछ बौद्ध धर्म को, तो कुछ जैन धर्म को अपना ली हैं। इनका आर्थिक स्रोत वनोत्पाद संग्रह, शिकार करना, मछली मारना, पशुपालन, शिल्पकारी और मजदूरी है। इनका मुख्य पेशा मजदूरी है – खेतों में, खदानों में, कल-कारखानों में, ईंट-भट्टों पर, सड़क, भवन निर्माण में इन्हें कार्य करते हुए देखा जा सकता है। इसके अलावा लोहारगिरी भी इनका पेशा है। इनके यहां पंचायत के मुखिया को महतो, पड़हा, राजा, मुंडा पड़हा, परगनैत और पीड़ कहा जाता है। ये बेहद संगीत-नृत्य प्रेमी होते हैं। इनके यहां के मुख्य पर्व हैं – सरहुल, करमा और सोहराय।

इसके अतिरिक्त पूरे भारत में अलग-अलग राज्यों में आदिवासी निवास करते हैं जिनकी अपनी जीवन-शैली है। भारत में आदिवासियों का विस्तार क्षेत्रफल की दृष्टि से पंजाब और हरियाणा को छोड़कर अखिल भारतीय आबादी का 8.6 प्रतिशत है। ''2011 की जनगणना के अनुसार भारत में आदिवासियों की जनसंख्या सबसे अधिक लक्ष्यद्वीप (94.8) और मिजोरम (94.4) में है।''[1] नागालैण्ड, मेघालय, दादरा और नगर हवेली, अरूणाचल प्रदेश, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, त्रिपुरा और झारखंड भी काफी आदिवासी जनसंख्या केन्द्रित राज्य हैं। असम के गारो, खासी और जयंतिया पहाड़ियों के आस-पास इसी नाम की जनजाति निवास करती है। मेघालय, मिजोरम, त्रिपुरा और नागालैण्ड में मोनपास, मिजिस, डफला, अकास और खगस नाम की जनजातियां रहती हैं। नागालैण्ड, मिजोरम, मेघालय और मणिपुर जैसै उत्तर-पूर्वी राज्यों जिनमें आदिवासी जनजातियों की जनसंख्या बहुत आधिक है, उनमें साक्षरता दर भी काफी ऊँची है। मेघालय की खासी जनजाति 'खासी' भाषा बोलती है। उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के असम, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा, अरुणाचल मिजोरम की जनजातियाँ स्थानांतरित कृषि करती हैं, जिसे 'झूम' खेती कहा जाता है। मेघालय का समाज मातृसत्तात्मक है। वैसे देखा जाय तो आदिवासी समाज के अलग-अलग क्षेत्रों में स्त्री-पुरुष का सामाजिक स्तर अलग-अलग पाया जाता है। इस बारे में **रमणिका गुप्ता** लिखती हैं – ''स्त्री-पुरुष का सामाजिक स्तर साधारणत: समानता और आजादी पर आधारित है किंतु अलग-अलग कबीलों में स्त्री व पुरुष की सत्ता की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ हैं। कहीं पितृसत्तात्मक समाज है तो कहीं मातृसत्तात्मक। मेघालय का समाज मातृसत्तात्मक है।''[2] अरुणाचल प्रदेश में निशी, आपातानी और खोवास नाम के आदिवासी पाये जाते हैं।

अरूणाचल प्रदेश की जनजातियां अधिकतर मंगोल प्रजाति की हैं और बौद्ध धर्म से प्रभावित हैं। आन्ध्रप्रदेश में चेचुस, कोंडा रेड्डी, जातापुस, कोलम, नायकपोड, सावरस इत्यादि नाम के आदिवासी निवास करते हैं। इसमें से कोलम और नायकपोड तो अपनी मातृभाषा भी भूल चुके हैं। कोलम आदिवासियों की अपनी भाषा गोंडी थी परन्तु वे आज तेलगू बोलते हैं और महाराष्ट्र से सटे आन्ध्रप्रदेश के आदिवासियों ने मराठी बोलना शुरू कर दिया है। इसी प्रकार नायकपोड आदिवासी भी अपनी परम्परागत कोलमी भाषा को भूलकर तेलगू बोलते हैं तथा हिन्दू संस्कृति को भी स्वीकार कर लिए हैं। जंगल साफ करके खेती करने का काम भी यह छोड़ चुके हैं और आज भारी मात्रा में ये खेत मजदूर बन गये हैं। मध्यप्रदेश में भील नामक जनजाति की संख्या काफी अधिक है। बिहार-झारखंड में असुर, बिरहोर, चेरो, गोंड, खड़िया, मुंडा, उराँव और खरवार जनजाति पायी जाती हैं। छोटानागपुर क्षेत्र में बिरहोर नाम की जनजाति खरगोश. हिरन, बंदर और चूहों को मारकर खाते हैं। कर्नाटक राज्य में मलेरू नाम के आदिवासी पाये जाते हैं। यह अपेक्षाकृत सम्पन्न होते हैं और मंदिरों में पूजा-पाठ का काम करते हैं। गुजरात में नायका अथवा नायकड़ा गुजराती भाषा बोलने वाली जनजाति है। गुजरात और राजस्थान में भीलों की काफी आबादी है। उड़ीसा राज्य की एक तिहाई आबादी आदिवासियों की है। महाराष्ट्र में हल्वा-हल्वी, धोबा, कोस्टी, महादेव कोली और भील आदिवासी पाये जाते हैं। आज जम्मू-कश्मीर के काफी लोगों को भी आदिवासी का दर्जा दे दिया गया है।

अब हम साहित्यकार रणेन्द्र के साहित्य में आये आदिवासी समूह के जीवन के विविध आयामों पर चर्चा करेंगे। रणेन्द्र ने मुख्य रूप से अपना साहित्य झारखंड के आदिवासियों को केन्द्र में रखकर लिखा है। उनमें भी मुख्य रूप से असुर, बिरजिया, बिरहोर, चेरो, खड़िया और उराँव जनजाति को अपने साहित्य में जगह दी है। जिनकी जीवन-शैली कुछ इस प्रकार है -

1. असुर जनजाति

असुर झारखण्ड की अल्पसंख्यक आदिम जनजातियों में से एक है। असुरों को सिन्धु सभ्यता के प्रतिष्ठापक के रूप में माना जाता है। ऋग्वेद, उपनिषद आदि ग्रन्थों में असुर का जिक्र मिलता है। पूर्व वैदिक काल से वैदिक काल तक असुरों का उल्लेख एक शक्तिशाली, सम्मानित एवं प्रतिष्ठित समुदाय के रूप में हुआ है। ऋग्वेद में असुरों के साथ आर्यों के संघर्ष की चर्चा है और असुरों की सामरिक सत्ता का सुनिश्चित संकेत मिलता है। संघर्ष के एक बिन्दु पर आते-आते आर्य हताश-निराश हो गए और सहायता याचना करने इन्द्र की शरण में गए। इन्द्र ने असुरों के साथ अन्तिम युद्ध में एक लाख असुरों को मार डाला और इतने ही असुर प्राण बचा कर वनीय-पर्वतीय क्षेत्रों में लुक-छिप गये जिनके वंशज कालांतर में मध्य दिशा (मध्य प्रदेश) में आए और वहां से उत्तर प्रदेश (वर्तमान समय में प्रयाग) से होते हुए मगध में प्रवेश किये जहां उन्हें स्थायित्व मिला।

असुर मुख्य देवता के रूप में वरुण को मानते हैं। आज भी इनके लोक-गीतों में वरुण का वृत्तांत मिलता है। झारखण्ड के असुरों में प्रचलित दंतकथाओं के आधार पर ऐसा माना जाता है कि उनका प्रवेश मध्य प्रदेश से हुआ है। **डॉ. बिमलाचरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** ने अपनी पुस्तक 'झारखण्ड की जनजातियाँ' में लिखा है – ''डाल्टन (1872), रिजले (1891) आदि का मत है कि असुर यहाँ के पूर्व निवासी थे और मुंडाओं द्वारा भगाये जाने पर मध्य प्रदेश (सुरगुजा-पाटन क्षेत्र) के जंगलों में चले गए। वहाँ से कोरवा राजा द्वारा निर्वासित होकर पुन: झारखण्ड (पाट क्षेत्र) में आ बसे। परिवेश उपयुक्त मिला। जंगल साफ कर खेती करने में जुट गये। मध्य-प्रदेश के पाटन-क्षेत्र से झारखण्ड के पाट-क्षेत्र में आने पर भी इन्हें संघर्ष से मुक्ति नहीं मिली।''[3]

असुर जनजाति के यहाँ बोली जाने वाली भाषा के बारे में **डॉ. बिमला चरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** लिखते हैं – ''इनकी भाषा असुरी है जो आस्ट्रो-एशियाटिक (आग्नेय) भाषा-परिवार से संबंध रखती है। ये नागपुरी और हिंदी का भी प्रयोग करते हैं।''[4] इसके साथ ही असुर जनजाति की तीन उपजातियाँ हैं –

1. **वीर असुर :** जंगलों में निवास करने वाले असुर वीर कहलाते हैं।
2. **बिरजिया असुर :** घूम-घूम कर कृषि करने वाले बिरजिया असुर कहलाते हैं।
3. **अगारिया असुर :** आग का काम अर्थात लोहा गलाने का काम करने वाले अगारिया असुर कहे जाते हैं।

असुर जनजाति का जीवन-यापन - असुरों का मुख्य निवास-स्थल पाट क्षेत्र है जो जंगली एवं पहाड़ी इलाका है। इस क्षेत्र में आने-जाने के रास्ते दुर्गम है एवं पेय जल दुर्लभ है। यह पाट क्षेत्र नेतरहाट की ऊंची एवं चौरस भूमि है जो गुमला, लोहरदगा तथा पलामू जिले के अन्तर्गत स्थित है। बाहरी दुनिया से अलग-थलग ये अपना एकाकी जीवन जरूर जीते थे लेकिन प्रकृति की गोद में बसे ये धरती-पुत्र सुख-शांति का बेहतर जीवन जी रहे थे। बाहरी जीवन से अधिकाधिक संपर्क, जंगल पर लगे प्रतिबंध गमनागमन-सुविधा के विकास आदि ने इनके आर्थिक जीवन को कमजोर किया है साथ ही सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे को भी बहुत हद तक प्रभावित किया है। असुरों के घर बहुत साधारण और झोपड़ीनुमा होते हैं। असुर गांव में परंपरागत पंचायत होती है जिसका मुखिया 'महतो' कहलाता है। पंचायत के रूप में गांव के पांच बुजुर्ग रहते हैं। सभी बालिग पुरुष पंचायत में भाग लेते हैं। पंचायत गांव के झगड़ों का निपटारा करती है। अपराधियों व दोषियों को सजा देती है और समाज में एकता बनाये रखती है। असुर गांव स्वयं एक राजनीतिक इकाई भी है। गांव के बीच में एक सांस्कृतिक केन्द्र 'अखड़ा' होता है। इनके 'अखड़ा' के पास ही बाजा घर होता है जिसमें वाद्य यंत्र रखे जाते है, ताकि 'अखड़ा में नाच-गाना के समय वाद्य-यंत्र यहां से आसानी से उपलब्ध हो सकें।

असुर प्राय: संयुक्त परिवार में रहते हैं लेकिन एकल परिवार भी पाया जाता है। असुर समाज पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय होता है। उत्तराधिकार पुरुष वर्ग को मिलता है। इनके यहाँ पिता की मृत्यु के बाद उसकी संपत्ति में सभी पुत्रों को समान हिस्सा मिलता है। कहीं-कहीं बड़े लड़के को संपत्ति में कुछ ज्यादा भाग मिलता है जिसे ज्येष्ठांश कहा जाता है। लड़की का सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता, पर उसका भरण-पोषण तथा विवाह की व्यवस्था पैतृक संपत्ति से होती है। इसी प्रकार विधवा को भी भरण-पोषण का हक है जो मृत्यु पर्यन्त या दोबारा विवाह करने तक बना रहता है। असुर समाज में बड़े-बूढ़ों का आदर है। उन्हें अपने प्रचलित रीति-रिवाजों का ज्ञान और अनुभव रहता है तथा वे सामाजिक परंपरा व मूल्यों के संरक्षक माने जाते हैं। समाज में रहकर अनेक व्यक्तियों के साथ संबंध स्थापित हो जाता है। ये संबंध दो तरह के होते हैं रक्त संबंधी या विवाह संबंधी। ये संबंध नातेदारी व्यवस्था बनाते हैं। जन्म के आधार पर रक्त संबंध बनता है जैसे- माता-पिता के साथ भाई-बहन, भाई-भाई आदि। विवाह के द्वारा एक व्यक्ति, पति, बहनोई, दामाद आदि नातेदारी में बंध जाता है। नातेदारी में कुछ संबंध परिहास-परिहार के होते हैं जैसे- जीजा-साली, देवर-भाभी आदि परिहास संबंध हैं और परिहार संबंधों मे एक-दूसरे का आदर-लिहाज करते हैं जैसे- बहू-ससुर, भावह-भैसुर आदि।

असुर समाज में आयु व यौन भेद के आधार पर कार्य अधिकार में भेद होता है। धार्मिक कार्य पुरुष ही करते हैं उसमें स्त्रियों की भागीदारी नहीं होती है। असुर धर्म में सिंगबोंगा सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। ये मरंग बोंगा तथा अन्य स्थानीय देवी-देवताओं में विश्वास करते हैं। आवास के इर्द-गिर्द पहाड़ियों एवं वृक्षों पर अनेक देवता निवास करते हैं। जिन्हें बैगा (पुजारी) द्वारा प्रसन्न रखा जाता है। इनके अन्य मुख्य देवता धरती माता, दुआरी, पाटदरहा, तूसहुसीद आदि हैं। धरती माता पर काला, दुआरी पर काला, पाटदरहा पर सफेद चूजा चढ़ाते हैं और तूसहुसीद पर बकरी तथा मुर्गी की बलि चढ़ाई जाती है। असुर कई पर्व मनाते हैं और उस अवसर पर पूजा-पाठ भी करते हैं। सोहराई, सरहुल, फगुआ, कथडेली, सरहीकुतसी, नवाखानी (फसल कटने पर) आदि इनके प्रमुख पर्व हैं। इनके यहाँ उम्र के हिसाब से मर्यादा मिलती है। बड़े-बूढ़ों का आदर होता है। स्त्रियों का स्थान, सहयोगी की तरह होते हुए भी दोयम दर्जे का होता है। वे पैतृक संपत्ति में अधिकारिणी नहीं होती, न वे पंचायत में बैठ सकती हैं।

श्रम विभाजन में भी आयु-यौन भेद परिलक्षित होता है। खेती करना, खपड़ा बनाना, रस्सी बंटना, खोंखा चुनना, लोहे का सामान तैयार करना आदि पुरुषों का काम है। औरतें चटाई बुनने, लेदरा सिलाई, गृह-कार्य आदि में संलग्न रहती हैं। साथ ही खेती के काम में भी पुरुषों का सहयोग करती हैं। हाट-बाजार तो प्राय: औरतें ही जाती हैं। वृद्ध-बच्चे हल्का-फुल्का काम करते हैं जैसे घर की रखवाली, पशुओं की देखभाल, बच्चों को खेलाना आदि।

असुर जनजाति कई गोत्रों में बंटी हुई है। बेंग, इन्दवार (मछली), टोप्पो, खुसर, करकेट्टा, ठिठइयो (चकोर), बास्वा (एक जंगली पशु), बघना (बाघ), आइन्द (मछली), ऊलू आदि मुख्य गोत्र हैं। गोत्र को ये पूर्वज मानते हैं। गोत्र-चिह्न घर में रखने की प्रथा नहीं है किन्तु विशेष अवसर पर पूजा-पाठ या पूजन-हवन होता है।

असुर जीवन-चक्र में तीन महत्वपूर्ण संस्कार संपन्न होते हैं जो जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसर पर मनाये जाते हैं। बच्चे का जन्म इनके बीच भगवान का प्रसाद समझा जाता है। इसीलिए बांझ औरतों को समाज में मान-मर्यादा नहीं मिलती है। प्रसव के समय गर्भवती-स्त्री को अलग कमरे में रखा जाता है जिसे सौरी घर कहते हैं। पहली संतान लड़की होना इनके यहां अच्छा माना जाता है तथा इसे समृद्धि और माता-पिता के दीर्घायु होने का संकेत समझते हैं। असुर समाज में 'चामबंधी' संस्कार का रिवाज है। सुरक्षा के लिए शिशु को चमड़े का धागा पहनाया जाता है जो बहुधा विवाह के समय ही खुलता है। जन्म छूत छ: दिनों का माना जाता है। विवाह सामाजिक जीवन की स्वाभाविक घटना मानी जाती है जो दायित्व की नींव डालता है। असुर अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं करते, किन्तु गोत्र के बाहर ही विवाह करते हैं। विवाह प्राय: परिवार के मुखिया-पिता या अभिभावक द्वारा तय किया जाता है। असुरों में वधू-मूल्य देने की प्रथा है। वधू-मूल्य में लड़की पक्ष को नगद राशि, कपड़ा तथा अन्य सामान-सामाग्री, भोज्य पदार्थ आदि लड़का पक्ष द्वारा दिया जाता है। असुर समाज में उबटन, मंडवा, चूमावन, सिंदूर, दान आदि की रस्में पायी जाती हैं। कन्या मूल्य से बचने के लिए इनके समाज में कई तरह के विवाह पाये जाते है, जैसे-सेवा-विवाह, अपहरण-विवाह, विनिमय-विवाह आदि। सेवा-विवाह में दामाद होने वाले ससुर के घर में एक अवधि तक सेवा देता है। अपहरण-विवाह में लड़का-लड़की दोनों भागकर विवाह कर लेते हैं और बाद में इनके विवाह को सामाजिक मान्यता मिल जाती है। विनिमय-विवाह एक तरह का गोलट विवाह है जिसमें लड़का-लड़की की अदला-बदली होती है। एक लड़के की शादी किसी लड़की से और उस लड़की के भाई की शादी उस लड़के की बहन से होती है। 'ढूकू शादी' के भी कुछ उदाहरण इनके बीच मिलते हैं, जिसमें लड़की बल पूर्वक लड़के के घर में प्रवेश कर जाती है और उपेक्षा, अपमान के बाद भी वहां टिकी रहती है। जिससे अन्त में दोनों का विवाह कर दिया जाता है। असुरों में 'ईदी-मी' विवाह भी पाया जाता है जिसमें लड़का-लड़की दोनों बिना विवाह की औपचारिकता निभाये पति-पत्नी की तरह रहने लगते हैं लेकिन कभी-न-कभी इन्हें अपनी शादी की रस्म पूरी करनी पड़ती है। चाहे वह अपने बेटे-बेटी की शादी के समय हो या चाहे पोता-पोती की शादी के समय हो। जीवनकाल में इस रस्म को पूरा ना करने पर मृत्यु संस्कार के पूर्व इसे पूरा किया जाता है। असुर प्राय: एक पत्नी विवाह पसंद करते हैं किन्तु वे एक से अधिक पत्नी भी रख सकते हैं। विवाह के पूर्व अखड़ा या धुमकुड़िया में लड़के-लड़कियों को पूरी आजादी रहती है।

असुर औरतें गोदना नहीं गोदवातीं, न नाक छेदवाती हैं। कान में छेद जरूर करवाती हैं। असुर कुछ निषेध को मानते हैं। कुंवारे लड़के या कुंवारी लड़कियाँ केले के पौधे नहीं लगाते हैं, इसके साथ ही गर्भवती स्त्रियों को ग्रहण देखना निषेध (टेबू) है। अमावस्या की रात में गर्भवती स्त्री को बाहर जाना मना है। बांस का पौधा वयस्क स्त्री-पुरुष नहीं लगाते। जुड़वा फल खाने से गर्भवती को मनाही है।

मृत्यु के संबंध में असुरों की धारणा है कि अच्छे लोग मृत्यु के बाद सिंगबोंगा के पास चले जाते हैं और दुष्ट व्यक्ति या कुकर्मी प्रेत-योनि में चले जाते हैं। ये पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। असुर शव को दफनाते हैं। कब्र के ऊपर शिला-खंड रखने का रिवाज है। मृतक के उपयोग का सामान और एक घड़ा भी उसके साथ रख दिया जाता है। आजकल दाह संस्कार की परिपाटी भी शुरु हो गई है। मृत्यु के दस दिन बाद हजामत करायी जाती है और रिश्तेदारों को भोज दिया जाता है।

आदिकाल से असुर लौहकर्मी रहे हैं। असुरों का लोहा गलाना ही पारंपरिक पेशा और आजीविका का एक मात्र साधन था। जिस परिवेश में इनका निवास-स्थल है वहां लोहा और भट्ठी में जलाने के लिए लकड़ी और कोयला उपलब्ध हो जाता था। लेकिन कालांतर में यह लौह-उद्योग कमजोर होता गया। स्थानांतरित खेती, संग्रह और शिकार इनके जीवकोपार्जन के महत्वपूर्ण स्रोत बन गये। असुर के खेत टाड और दोन दो प्रकार के होते हैं। दोन खेत बहुत कम मिलते हैं। खेत की मिट्टी लेटेराइट है जो अधिक उपजाऊ नहीं होती। पाट-क्षेत्र में सिंचाई की कोई व्यवस्था नहीं है। कृषि पूर्णत: वर्षा पर निर्भर है। इनकी मुख्य फसल मकई, महुआ, गोंदली, गोड़ा आदि है। असुर नदी-तालाबों में मछली पकड़ने का भी कार्य करते हैं। ये जंगली जानवरों का शिकार भी कर ही लेते हैं जबकि शिकार करने पर प्रतिबंध लगा हुआ है। इनके बीच सामूहिक शिकार करने की पद्धति भी पायी जाती है।

असुरों की आजीविका का एक मुख्यस्रोत मजदूरी है। **डॉ. बिमला चरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** असुरों की आजीविका के साधनों के बारे में लिखते हैं – ''कोई 22 प्रतिशत असुर कृषि मजदूरी के रूप में अपनी रोटी कमाते हैं। कुछ बॉक्साइट खदानों में काम करते हैं। लोहा गलाने का भी छिटपुट काम होता है। असुर लौह-कार्य में दक्ष होने के कारण आसपास के स्थापित फैक्ट्रियों में आसानी से काम पा लेते हैं। असुर जनजाति को जंगलों में कार्य या लकड़ी काटने का अच्छा अनुभव है। इसी पारंगतता को देखते हुए इन्हें जलपाईगुड़ी, सिक्किम, असम, भूटान तथा अंडमान द्वीप में चाय बगानों और जंगलों में काम मिल जाता है। जंगल से लकड़ी काटकर भी ये बेचते हैं। ईंट-भट्टा में स्त्री-पुरुष दोनों काम करते हैं। ट्रकों में लदायी का काम भी ये करते हैं।''[5] इससे जाहिर है कि जंगल इनकी आजीविका और आय के स्रोत रहे हैं। वन से आम, जामुन, अम्बेरा आदि फल मिल जाते हैं जिसे खाते हैं और कभी कुछ बेचते भी है। जंगल से सखुआ और करंज के दतुवन भी मिल जाते हैं जिसे बेचकर असुर कुछ कमा लेते हैं। इसके साथ ही वनों से कई तरह के बीज, फूल, पत्ती, साग-सब्जी, कंद-मूल आदि उपलब्ध हो जाते हैं। साल और कुसुम के बीज बेचकर ये कुछ पैसे कमा

लेते हैं। जंगल से उपलब्ध होने वाली सबसे महंगी वस्तु चिरौंजी है किन्तु उसकी नगद बिक्री न करके वस्तुओं का विनिमय किया जाता है। जड़ी-बूटी भी जंगल में उपलब्ध हो जाती है जिनका औषधीय प्रयोग ये जानते हैं। कुछ असुर कारीगरी का काम करते हैं। वे लोहे की कुछ चीजें जैसे-सड़सी, हथौड़ा, छेनी, चाकू आदि बनाकर बाजारों-हाटों में बेचते हैं। असुरों में कुछ लोग की आजीविका पशु-पालन भी है।

असुर जनजाति की कमजोर आर्थिक व्यवस्था उनके जीवन शैली में भी झलकती है। पहले तो जंगली फल-फूल और जानवरों-पक्षियों का मांस खाकर वे गुजर-बसर कर लेते थे। आज इनका मुख्य भोजन मक्का और चावल है। वे मक्के का घट्टा बनाकर खाते हैं। महुआ का लेटो, डम्बू (रोटी) और गोंदली का भात खाते है। दाल का उपयोग बहुत कम करते हैं। ये सुबह के खाना को 'लोलो घोटो जोमकू' और शाम के खाने को 'बियारी घोटो जोमकू' कहते हैं। पीठा, खिचड़ी, लाठा, मकई घाटा आदि इनके प्रिय भोजन हैं।

असुरों के बीच शराब और धूम्रपान का भी प्रचलन है। अनाज और महुआ से शराब तैयार की जाती है। ये प्राय: ताड़ी और हड़िया पीते हैं। हड़िया को 'बोथा' या 'झरनुई' कहा जाता है। देशी शराब का भी प्रचलन है।

असुरों की पोशाक साधारण और सस्ते किस्म की होती है। ये कम वस्त्रों का प्रयोग करते हैं। असुरों के बीच शिक्षा का अभाव है। धीरे-धीरे असुर समाज में बदलाव आ रहा है। इनका खान-पान, रहन-सहन बदल रहा है। शिक्षा के प्रति अभिरूचि बढ़ रही है।

2. बिरजिया जनजाति

बिरजिया झारखण्ड की एक अल्पसंख्यक आदिम जनजाति है। 'बिर' का अर्थ होता है जंगल और 'जिया' का अर्थ होता है रहने वाला। बिरजिया को असुर जनजाति का ही एक उपभाग माना गया है। बिरजिया अपने को पुंडरिक नाग का वंशधर मानते हैं। उनका यह भी मानना है कि वे विंध्याचल से यहाँ दुर्जनशाल के साथ आए थे। पूर्ववर्ती संदर्भों में बिरजिया की अलग जनजाति के रूप में कम ही चर्चा हुई है लेकिन सरकार द्वारा अनुसूचित जनजातियों की सूची में एक पृथक जनजाति के रूप में इनकी परिगणना की गई है। बिरजिया जनजाति के बारे में **डॉ. बिमला चरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** लिखते हैं – ''असुर की तरह बिरजिया भी प्रोटो-आस्ट्रेलायड प्रजाति के अन्तर्गत आते हैं। शारीरिक लक्षणों में भी असुर से इनकी समानता है। इनका भी रंग गहरा चाकलेट ब्राउन से काला तक होता है।''[6]

बिरजिया जनजाति का जीवन-यापन – बिरजिया आज भी दूर घने जंगलों में निवास करते हैं। ये मुख्य रूप से पलामू के बरवाडीह, गारू, महुआटांडा, भंडारिया और बालूमाथ प्रखण्ड, गुमला जिला के बिशुनपुर एवं रायडीह तथा लोहरदगा जिला के सेन्हा और किस्को प्रखण्ड में पाये जाते हैं। इनकी

कुछ आबादी सिमडेगा में भी मिलती है। असुरों की तरह बिरजिया भी पाट-क्षेत्र में रहते हैं, जो जंगल-पहाड़ों से भरा इलाका है। ये पाट क्षेत्र के ऊपर और पत से नीचे घाटी में बसे हुए हैं। इनके गांव छोटे होते हैं। हरेक गांव में अखड़ा होता है, जिसका बिरजिया जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। अखड़ा प्राय: गांव के बीच में होता है, जहां लगभग रोज नाच-गाना होता है। पर्व-त्योहार के अवसर पर ये लोग अखड़ा में विशेष नाच-गान करते हैं।

बिरजिया के घर बहुत साधारण होते हैं। बिरजिया समाज में परिवार पितृसत्तात्मक होता है। इनके बीच एकल और संयुक्त दोनों तरह के परिवार पाये जाते हैं। परिवार में पिता ही मुखिया होता है वही परिवार का संचालन करता है। इनकी स्त्रियां बहुत परिश्रमी होती हैं जिसके कारण परिवार के आर्थिक जीवन में अपना योगदान देती हैं। घर का सारा काम-काज जैसे-बच्चों का लालन-पालन, भोजन बनाना आदि और कृषि कार्य में निकौनी, रोपनी आदि इन्हीं के जिम्मे रहता है। ये बाजार-हाट में जाकर क्रय-विक्रय करना तो मुख्यत: स्त्रियों का ही काम है। साथ ही बाहर में मेहनत-मजदूरी करके वे पारिवारिक आय में वृद्धि करने की चेष्टा करती हैं।

बिरजिया को सामाजिक व्यवस्था के अनुसार दो भागों में बांटा गया है – सिंदूरिया और तेलिया। तेलिया बिरजिया के दो उपभाग हैं – दूध बिरजिया और रश बिरजिया। इन सबों के बीच खान-पान शादी-ब्याह सभी कुछ चलता है लेकिन कुछ मूल बातें हैं, जो एक-दूसरे से अलग करती हैं। सिंदूरिया बिरजिया के विवाह में सिंदूर प्रयोग किया जाता है, जबकि तेलिया बिरजिया सिंदूर का प्रयोग नहीं करते। इसीलिए उनकी महिलाएं कभी भी अपने माथे पर सिंदूर नहीं लगाती। इसी तरह दूध बिरजिया गाय का दूध पीते हैं पर मांस नहीं खाते, जबकि रश बिरजिया दूध भी पीते हैं और मांस भी खाते हैं। बिरजिया का प्रिय भोजन चावल, मड़ुआ, खुरसा, मांस आदि है। बिरजिया में कई गोत्र होते हैं। इनका गोत्र-चिह्न या गण-चिह्न होता है। गोत्र किसी पशु-पक्षी या वृक्ष-पौधों से जुड़ा होता है। इनके कुछ मुख्य गोत्र इस प्रकार हैं – लकड़ा, शौन, ठिठियो, मैंथी, बघरेवा, सिंगीरवाल, बांसमोरी, बरवा, झलका, सिंदराही आदि।

बिरजिया जनजाति में कुछ ऐसे रिश्ते-नाते हैं जिनके बीच हंसी-मजाक चलता है, इसे परिहास संबंध कहा जाता है जैसे-साली-बहनोई आदि। कुछ परिहार रिश्ते होते हैं जैसे-भवह-भैसुर आदि। बिरजिया समाज में तीन महत्वपूर्ण संस्कार मनाये जाते हैं। जन्म, विवाह और मृत्यु संस्कार। जन्म संस्कार जीवन का प्रथम संस्कार है यहीं से जीवन चक्र प्रारम्भ होता है। प्रसव पीड़ा होते ही गर्भवती स्त्री को एक अलग घर या कमरे में रख दिया जाता है जहाँ वह बच्चा जनती है। इनके यहां नौ दिन तक प्रसव-छूत माना जाता है। इनके यहाँ बच्चों का नामकरण पूर्वजों के नाम पर रखा जाता है। इनके बीच विवाह की अपनी पद्धति है। शादी से एक-दो साल पहले सगाई कर दी जाती है। विवाह की बात लड़का-पक्ष से चलाई जाती है। दो अगुआ लड़की के घर जाकर विवाह का प्रस्ताव रखते हैं, और लड़की का पिता मान जाता है तो 10 दिन के अन्तराल पर सगाई की स्वीकृति मिल जाती है। इसके बाद ये विवाह की एक-एक रस्म निभाते हैं। बिरजिया जनजाति में

बहु-पत्नी विवाह का रिवाज प्रचलित है। उनके यहाँ लोग अपनी औकात के अनुसार एक साथ तीन पत्नियाँ भी रख सकते हैं। चूल्हा-चौका का काम छोटी पत्नी औऱ दूसरे काम अन्य पत्नियाँ करती हैं। एक व्यक्ति दो सगी-बहनों से शादी कर सकता है, बशर्ते वह पहले बड़ी बहन से शादी कर चुका हो। पति-पत्नी में नहीं पटने पर तलाक दिया जा सकता है। तलाक बहुत सरल है। इस पद्धति में मात्र गांव के कुछ बूढ़ों या समाज के प्रधान के सामने इसे रखना पड़ता है। परित्यक्ता स्त्री को पुनर्विवाह की छूट है। ऐसे विवाह को 'सगाई' कहते हैं। विधवा विवाह का भी प्रचलन है। बिरजिया जनजाति में बाल-विवाह की प्रथा नहीं है, फिर भी कुछ छिटपुट उदाहरण मिलते हैं।

मृत्यु के बाद शव को जलाने और दफनाने दोनों तरह की प्रथा पायी जाती है। प्रत्येक गांव के लिए एक श्मशान होता है। यदि शव को दफनाया जाता है तो उसके सिरहाने पांच मिट्टी का दिया और थोड़े-थोड़े पांच तरह के अनाज उसके नाम पर रख दिये जाते हैं।

बिरजिया जनजाति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बहुत समय तक इसने ईसाई धर्म को स्वीकार नहीं किया। आज भी वे अपनी परम्परा और रीति-रिवाजों को जीवित एवं सुरक्षित रखे हुए हैं। इनके धार्मिक जीवन में सरना का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। सरहुल में सरना पूजा या करम पूजा बैगा ही करता है दूसरा कोई नहीं कर सकता। सरहुल पूजा धरती से संबंधित है इसके साथ ही इनकी अधिकांश पूजाएं खेती और धरती से संबंधित होती हैं। लगभग सभी पूजाओं में ये बलि देते हैं और हड़िया चढाते हैं। सुअर, मुर्गी या बकरी आदि की बलि वे बहुत पहले से देते आ रहे हैं और आज भी देते हैं। बिरजिया के मुख्य देवता सींगी, महादेव-पार्वती, बघौत, दरहा, मड़ई हैं। ये लोग जादू-टोना में विश्वास रखते हैं और डायन को भी मानते हैं। बीमार होने पर ये ओझा से इलाज कराते हैं।

बिरजिया जनजाति का मुख्य पेशा खेती है। ये पहाड़ के ऊपर पाट-क्षेत्र में बसे होने के कारण स्थानांतरित खेती करते हैं। ये मकई, राहर, उड़द, बोदी, खुरसा, तिल आदि की खेती करते हैं। इन्हें दो-तीन साल के बाद खेती का स्थान बदल देना पड़ता है। पहाड़ के नीचे के गांवों में रहने वाले बिरजिया अपने पड़ोसी खरवार, किसान तथा अन्य जातियों की तरह स्थायी खेती करते हैं। इसके अलावा बिरजियों का कास्तकारी का दूसरा मुख्य उपपेशा है। बिरजिया जनजाति में ही कुछ लोग आस-पास के जंगलों से लकड़ी प्राप्त कर बढ़ईगिरी का पेशा भी अपना लिया है। कुछ बिरजिया परिवार लोहे का काम करते हैं। लोहे की कुदाल, हंसुआ. फार आदि बनाकर अनाज या पैसे लेकर किसानों को देते हैं। बिरजिया बांस का भी काम करते हैं। बांस से छतरी, खचिया, सूप, टोकरी आदि बनाने में ये बहुत निपुण होते हैं। इनकी महिलाएं इस काम में ज्यादा दक्ष होती हैं। इसके अलावा ये जंगल से कंद-मूल, लाह, मधु-मोम, फल-फूल, साग आदि का संग्रह करते हैं, कुछ खाते हैं और कुछ बेचते हैं। इनकी अर्थव्यवस्था में जंगलों की अहम भूमिका होती है।

बिरजिया जनजाति के समाज में राजनैतिक संगठन के नाम पर मात्र इनकी जाति-पंचायत है। जाति का कोई प्रमुख व गणमान्य व्यक्ति इसका मुखिया होता है। पंचायत में भागीदारी के संबंध में **डॉ. बिमला चरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** लिखती हैं – ''बैगा, बेसरा, धावक तथा मानिन्द व्यक्ति इसमें शामिल रहते हैं। यह पंचायत हर तरह के जातीय मामले का निष्पादन करती है। दोषियों को दण्ड या जुर्माना की सजा देती है।''[7] अब हर क्षेत्र में सरकारी पंचायत की स्थापना हो गई है जहां गांव के सारे और सभी तरह के विवाद निपटाये जाते हैं। इनके बीच अब राजनैतिक चेतना एवं जागरण आ रहा है। लेकिन शिक्षा का अभाव है जो मुख्यत: गरीबी और बीहड़ परिवेश के कारण है। इनके बीच शिक्षित बिरजियों का अनुपात बहुत ही कम पाया जाता है।

3. बिरहोर जनजाति

बिरहोर झारखंड की विलुप्त होती जा रही अल्पज्ञात आदिम जनजाति है। 'बिर' का अर्थ जंगल और 'होर' का अर्थ आदमी होता है। अत: नाम से ही पता चलता है कि वे 'जंगल के लोग' हैं। इनकी उत्पत्ति के संबंध में एक किवदंती है कि कैमूर पहाड़ी के खैरागढ़ से सात भाई चले जिसमें से तीन रामगढ़ की ओर आ गये, ये तीनों भाई यहां के नायक से लड़ने जा रहे थे रास्ते में एक का शिरोवस्त्र वृक्ष में फंस गया। इसे अपशकुन समझकर वह वहीं रुक गया। जब दोनों भाई वापस आये तो पेड़ की छाल काटते हुए देखकर उसे बिरहोर कह दिया। तब वह जंगल में ही रहने लगा। जबकि बिरहोर स्वयं को खरवार के समूह का मानते हैं और सूर्य से अपनी उत्पत्ति मानते हैं। ये पहाड़ों-जंगलों में शांत, एकान्त जीवन जीते हैं। यह एक घुमन्तू जनजाति है जो छोटे-छोटे समूहों में, परम्परा से जंगलों में रह कर, घूम-फिर कर कंद-मूल, फल-फूल आदि वन्य पदार्थों का संग्रह कर तथा शिकार द्वारा अपना जीवनयापन करती है। इनका मुख्य भोजन बंदर का मांस है। यह मुख्यत: हजारीबाग, चतरा, कोडरमा, रांची, सिमडेगा, गुमला, लोहरदगा, सिंहभूम, बोकारो, गिरिडीह और धनबाद में पाये जाते हैं। बिरहोर जनजाति को प्रजातीय दृष्टि से प्रोटो-आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है। ये बिरहोरी बोलते हैं जो मुंडारी भाषा का एक अंग है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन्हें आस्ट्रिक भाषा परिवार की आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा उप-परिवार में रखा गया है।

बिरहोर जनजाति का जीवन-यापन – यह लोग जिस बस्ती में रहते हैं उस बस्ती को 'टंडा' कहते हैं। ये छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहते हैं जिसे 'कुम्बा या कुरहर' कहते हैं। यही बिरहोर का गांव है जो प्राय: पहाड़ की चोटी पर या पर्वत-स्कंध पर अवस्थित रहते हैं। एक 'टंडा' में छ: या इससे अधिक झोपड़ियां होती हैं। कुछ 'टंडा' में प्राय: एक 'गीति-ओड़ा' पाया जाता है जो कुंवारे लड़के और लड़कियों के सोने के काम में लाया जाता है। प्राय: इनकी झोपड़ी शंक्वाकार रूप में तथा गुंग पेड़ की टहनियों और पत्तों की बनी होती है। वस्तुत: पूरी झोपड़ी पत्तों से ढकी होती है जिसके कारण भारी से भारी वर्षा में भी इनकी झोपड़ी

में पानी की एक बूंद भी नहीं टपकती। इनके यहां विवाह के बाद बिरहोर में यौन अनैतिकता अज्ञात है किन्तु विवाह के पूर्व मुक्त यौन-संबंध की छूट है। यहां तो 'गितिओड़ा' के रहवासी लड़कों और लड़कियों के बीच लाग-लगाव आम बात है, अपवाद नहीं। जीवन-यापन के ढंग पर बिरहोर को दो उपवर्गों में रखा जा सकता है, उथलू या भुलिया (घुमक्कड़) और जांघी या थानिया (अधिवासी)। उथलू बिरहोर वर्षा ऋतु को छोड़कर साल भर छोटे-छोटे समूहों में जंगल-जंगल भोजन की तलाश में घूमते रहते हैं जबकि जांघी स्थायी रूप से बस गए हैं। इनमें से जिनके पास भूमि है वे खेती करते हैं। फिर भी ये एक ही स्थान पर बहुत लम्बे समय तक स्थिर नहीं रहते। बिरहोर का परिवार पितृसत्तात्मक और पितृवंशीय होता है। उत्तराधिकार पुरुष पंक्ति में चलता है। संपत्ति का बंटवारा पिता की मृत्यु के बाद ही प्राय: होता है किन्तु उसके जीवन-काल में भी लड़के बंटवारा की मांग कर सकते हैं, यदि सभी लड़कों का विवाह हो चुका हो। बड़े पुत्र को थोड़ा ज्यादा हिस्सा मिलता है। पितृवंशीय परिवार होने के कारण पिता का गोत्र (टोटेम) ही पुत्र का होता है, मां के गोत्र का कोई मान नहीं क्योंकि स्त्री न तो अपने पिता के गोत्र की सदस्या होती है और न ही अपने पति के गोत्र की। फिर भी हर विवाहित स्त्री अपने पति के टोटेम का आदर करती है। इनके गोत्रों की संख्या में विवाद है कोई इनकी संख्या आठ मानता है तो कोई इनकी संख्या 37 मानता है। सर्वमान्य गोत्र हैं – हेम्ब्रोम, जोग सेरिया, महली, नगपुरिया, सिंगपुरिया, लितुआई, नाग और सिरुआर।

बिरहोरों में पहनावा की बात करें तो देखते हैं कि बिरहोर पुरुष भगवा या कौपीन पहनते हैं जो 'डंडा-डोर' से बंधा होता है। डंडा-डोर पेड़ की छाल (चोप) के रेशे से बनी एक रस्सी होती है जिसे बिरहोर पुरुष अपनी कमर में बांधते हैं। इनकी स्त्रियां लहंगा और दो गज लम्बा तथा डेढ़ गज चौड़ा कपड़ा शरीर के ऊपरी भाग को ढकने के लिए पहनती हैं। इसके साथ ही ये बिना पाड़ वाली साड़ी भी पहनती हैं। जांघी बिरहोर छोटी धोती और भगवा का प्रयोग करते हैं। वे गमछा और पिचोरी को भी उपयोग में लाते हैं।

बिरहोर जनजाति के जीवन-चक्र में तीन चरण या तीन अनुष्ठान बहुत महत्वपूर्ण होते हैं : जन्म, विवाह और मृत्यु। ये शाश्वत संस्कार हैं जो सभी समाज में प्रचलित हैं। बिरहोरों की यह धारणा है कि जीवन-चक्र एक चरण से दूसरे चरण की ओर निरंतर विकास की प्रक्रिया है, जैसे – जन्म से शैशवावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था फिर वैवाहिक स्तर, तब वृद्धावस्था और अंत में मृत्यु। जब शिशु पैदा होता है तो झोपड़ी में एक नया दरवाजा खोल दिया जाता है ताकि उसी दरवाजे से जच्चा एक से लेकर छ: सप्ताह तक आ-जा सके, क्योंकि प्राचीन दरवाजे का प्रयोग निषेध होता है। इनके यहां छठी संस्कार सातवें दिन मनाया जाता है तथा 21वें दिन पर अंतिम शुद्धि अनुष्ठान होता है। इसके दूसरे दिन नामकरण होता है। इसके बाद विवाह संस्कार आता है, मुख्यत: विवाह संस्कार सभी बिरहोर के लिए अनिवार्य माना जाता है। इनके यहाँ व्यक्ति केवल विवाहोपरांत ही जाति का संपूर्ण सदस्य माना जाता है। विवाह का मुख्य आधार जाति और गोत्र होता है। जाति के बाहर या एक ही गोत्र में विवाह वर्जित है। इनके यहां एक ही पत्नी रखने का प्रचलन है।

बहुत कम बिरहोरों की दो पत्नियां पायी जाती हैं। बिरहोरों में कम-से-कम दस प्रकार के विवाह का प्रचलन है। **नाम-नपम बापला** विवाह उसे कहते हैं जब कोई लड़का और लड़की बहुत दिनों से गुप्त प्रेम कर रहे हों तब परिवार वाले उनकी शादी करवा देते हैं। **उद्रा-उद्री बापला** विवाह पद्धति में जब लड़का-लड़की एक-दूसरे से प्रेम करते हैं और यह जान रहे होते हैं कि समाज में हमारा विरोध होगा तो वे दोनों गांव-परिवार को छोड़कर भाग जाते हैं। और कहीं दूर जाकर पति-पत्नी की तरह अपना जीवन व्यतीत करने लगते हैं। घर वालों को यह पता लगते ही उनको बुलाकर शादी करा देते हैं। **बोलो बापला** विवाह में कोई युवती या विधवा जिस लड़के से प्रेम करती है उसके घर माथे पर महुआ फूल-गुच्छों से भरी टोकरी रखे और जलावन-लकड़ी का गठ्ठर लिए प्रवेश कर जाती है। और दो दिन तक अपमान सहते हुए रह जाती है तो वह 'बोला' पत्नी के रूप में स्वीकार कर ली जाती है। बाद में कन्या मूल्य दे दिया जाता है। **सिपन्दुर बापला** विवाह बोलो बापला विवाह के विपरीत होता है इसमें लड़का जिस लड़की से शादी करना चाहता है उसे बाजार-हाट में अकेले मिल जाने पर उसके माथे पर सिन्दूर तेल मल देता है। इस प्रक्रिया को विवाह के समकक्ष माना जाता है। **सांगा बापला** विवाह में जब कोई व्यक्ति किसी विधवा-स्त्री को पत्नी के रूप में ब्याह लेता है या फिर कोई विधुर किसी विधवा या तलाकशुदा स्त्री से विवाह कर लेता है तो उसे सांगा बापला विवाह कहा जाता है। इसमें कन्या-मूल्य बहुत कम होता है। इसी तरह से इनके यहां हिरूम बापला, किरिंग जवाई बापला, गोलट या गोलहट बापला, बेंग करही बापला और सदर बापला आदि भी पद्धतियां हैं। इसके बाद मृत्यु संस्कार में ये हिंसा से हुई मृत्यु को छोड़कर सभी प्रकार की मृत्यु को बिरहोर भूत-प्रेत, देवी-देवता की करगुजारी मानते हैं। शव को जलाया जाता है और बची-खुची हड्डी को नदी में प्रवाहित कर देते हैं। इसके सातवें दिन मुंडन होता है तब तक कोई भी मांस-मछली नहीं खा सकता और न ही स्नान कर सकता है।

बिरहोर का धर्म इनके जीवन जीने की पद्धति से व्यक्त होता है। ये बहुत अंधविश्वासी होते हैं। यहां तक कि ये अपनी भौतिक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए प्रेतात्मा के साथ दोस्ताना संबंध, पूजा-पाठ और बलि भी देते हैं। ये जादू-टोना, मंत्र आदि में विश्वास करते हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ देवता सिंगबोंगा हैं। उथलू बिरहोर के पास पर्व-त्योहार मनाने का समय ही नहीं रहता है क्योंकि ये रोजी-रोटी और पेट की चिंता में ही व्यस्त रहते हैं। हां, जब किसी के हाथ कोई शिकर फँसता है तो वह अपने संगी-साथियों को खैनी-चूना बांटकर उत्सव का आनंद लेता है। जांघी बिरहोर अपने साथ रह रहे मुंडा-संथालों का अनुकरण करके कुछ पर्व मना लेते हैं। जैसे- नवोजोम, करमा, जीतिया, दसई, सोहराय आदि। इसके अलावा ये कभी-कभी नाच-गाकर या लोक-कथाएं आपस में सुन/सुनाकर मनोरंजन कर लेते हैं।

अधिकतर बिरहोर 'ले आओ, खा लो' की जिन्दगी जीते हैं। इनका एक उपवर्ग-जांघी बिरहोर स्थायी कृषक हो गए हैं। ये जंगल साफकर खेती करते हैं। मक्का, बीन आदि मोटे अन्न उगाते हैं। इसके बरक्श जो भूमिहीन जांघी होते हैं वह लकड़ी का प्याला, कटोरी, ओखल, मूसल, शिकारी जाल, रस्सी आदि

बनाकर बेचते हैं आसपास के गांवों में। सितम्बर से लेकर नवम्बर तक उथलू और जांघी औरतें खजूर का पत्ता जमा करती है और चटाई बुनती हैं। उथलू बिरहोर जंगल से चोप जमा करते हैं जिससे रस्सी बनाते हैं। ये रस्सी, मोम, मधु, सिक्का, बहंगी बेचकर जीवनयापन करते हैं। शिकार करना एवं रस्सी बनाना इनका मुख्य पेशा है। इसके बारे में **डॉ.ए.आर.ए. श्रीवास्तव** लिखते हैं – ''बिरहोर पेड़ पौधों की छाल से विभिन्न प्रकार की रस्सियाँ बनाने में निपुण होते हैं। इनकी जीविका का मुख्य साधन रस्सी बनाने का उद्योग ही है। पेड़ की छाल को 'चोप' कहते हैं। औरतें तथा बच्चे रस्सी बनाना जानते हैं। और सभी रस्सी बनाने में पुरुषों को सहयोग देते हैं।''[8] कभी-कभी मछली भी पकड़ते हैं। ये मछली खाते भी हैं और बेचते भी हैं। खरीद-बिक्री में विनिमय और नकदी दोनों प्रकार की पद्धति प्रयोग में लायी जाती हैं। कुछ बिरहोर बंदर को पालतू बना लेते हैं और उनको नाच सिखाकर गांवों में तमाशा करवाते हैं जिससे उनको कुछ पैसे मिल जाते हैं। कुछ लोग मजदूरी भी करते हैं। इनके 'टंडा' का एक मुखिया होता है यह होता तो मुख्यत: पुजारी ही है लेकिन यह सामाजिक, धार्मिक. राजनीतिक और आर्थिक सभी कार्यों को नियंत्रित करता है। यही जरूरत पड़ने पर पंचायत बुलाता है जिसमें हर परिवार का मुखिया भाग लेता है। यह पंचायत विवादों का निपटारा करती है और अपराधियों को सजा भी देती है।

बिरहोर जनजाति में साक्षरता दर तो बहुत कम मिलती है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बिरहोर का एक उपवर्ग घुमन्तू वर्ग है। वे स्थायी रूप से कहीं नहीं ठहरते हैं। इनके बीच न तो स्कूल पाये जाते हैं और न ही अस्पताल। इसीलिए इनके बीच शिक्षा का अभाव तो है ही साथ में ये तरह-तरह की बीमारियों से ग्रसित रहते हैं जैसे- कुपोषण, चर्म रोग, घेंघा रोग और अन्य रोगों को प्रकोप भी कम नहीं है। इनके समाज में पेय जल का घोर अभाव है। बिरहोर समाज सुविधा विहीन समाज है।

4. चेरो जनजाति

चेरो एक प्राचीन जनजाति है। चेरो को चेरन या चेरवा भी कहा जाता है। इनकी उत्पत्ति के संबंध में एक किवदंती है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि कुमांयू के मोरंग प्रदेश के मुनि और बुंदेलखंड की राजकुमारी के समागम से चेरो की उत्पत्ति हुई। इसके अलावा कहा जाता है कि महाभारत के युद्ध में वर्तमान जनजातियों में से चेरो और मुंडा जनजाति ने भी भाग लिया था। राजा और जमींदार रहे चेरो आज झारखंड की एक अनुसूचित जनजाति है जो गरीबी या जहालत और मशक्कत की जिंदगी गुजार रहे हैं। चेरो मुख्यत: पुराना पलामू जिला (पलामू, गढ़वा, लातेहार) में निवास करते हैं। प्रजातीय दृष्टि से चेरो को प्रोटो-आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है।

चेरो जनजाति का जीवन-यापन – चेरो लोग स्थायी गांवों में निवास करते हैं। इनके गांव अधिकांशत: समतल भूमि में पाये जाते हैं। चेरो झारखंड की अकेली जनजाति है जो पहाड़ों और जंगलों में

रहना पसंद नहीं करती है। ये सामान्य, पर संपन्न प्रकार के घरों में रहते हैं। इनके घर आयताकार होते हैं। इनके यहां कुछ घर दुमंजिले भी पाये जाते हैं। चेरों के घर अन्य जनजातियों से भिन्न होते हैं। घर में कृषि कार्य से संबंधित यंत्र जैसे हल, कुदाल, खुरपी आदि भी पाये जाते हैं। इसके साथ ही घरेलू सामान जैसे बर्तन, कांसा के लोटा, गिलास, थाली, लोहे की कड़ाही, तवा आदि पाये जाते हैं। चेरो का खान-पान अन्य जनजातियों की तरह सामान्य ही होता है। चेरो का पहनावा भी अन्य जनजाति की तरह साधारण होता है।

आज पलामू के चेरो प्राय: दो अन्तर्विवाही समूहों में बंटे हुए हैं जैसे-बारह हजारी और तेरह हजारी। बारह हजारी चेरो अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसा कहा जाता है कि तेरह हजारी चेरो बारह हजारी चेरो की अवैध पत्नी से उत्पन्न संतान हैं। जो भी हो, चेरो समाज में इनका स्थान निम्नतर है। दोनों समूह 12 समानांतर गोत्रों में बंटे हुए हैं, जिसे पारी कहते हैं। इनके मुख्य गोत्र हैं – छोटा मउआर, बड़ा मउआर. छोटा कुंवर, बड़ा कुंवर, महतो, मंझिया, समबात और रौतिया। चेरो अपने को चौहान वंशी या चंद्रवंशी राजपूत होने का दावा करते हैं। चेरो परिवार पितृसत्तात्मक और पितृवंशीय होता है। उत्तराधिकार पुरुष पंक्ति में चलता है। सामान्यत: संपत्ति का बंटवारा पुत्रों में समान रूप से होता है लेकिन कुछ संपन्न परिवारों में बड़े लड़के को थोड़ा ज्यादा हिस्सा दिया जाता है। पुत्री को संपत्ति में हिस्सा नहीं दिया जाता है। चेरो परिवार में श्रम-विभाजन और सहयोग देखने को मिलता है। पुरुष खेती और बाहर का काम करते हैं, औरतें घर का सारा काम संभालती हैं जैसे खाना पकाना, बच्चे को संभालना आदि। चेरो समाज में स्त्रियों का सम्मानजनक स्थान होता है। फिर भी इनके लिए धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक कार्यों में प्रतिबंध लगे हुए हैं। इनके यहां रिश्ते-नातों की दो प्रणाली हैं पहली प्रणाली में रक्त से संबंधित रिश्ते जो जन्म के आधार पर होते हैं जैसे-भाई-बहन आदि, और दूसरी प्रणाली में वैवाहिक संबंध जो विवाह से जुड़े रिश्ते होते हैं जैसे-साला-साली आदि आते हैं।

इसके साथ चेरो समाज में भी जीवन के तीन संस्कार मनाये जाते हैं – जन्म, विवाह और मृत्यु। जन्म संस्कार में प्रसव घर में ही होता है। प्रसव के समय कोई प्रौढ़ और कुशल महिला सहायता के लिए बुला ली जाती है। जन्म के बाद लड़का होने पर 12 दिनों के लिए और लड़की होने पर 13 दिनों के लिए छूत माना जाता है। एक माह बाद बच्चे का नामकरण होता है। पहला दांत निकलने पर 'मुंहजूठी', दो साल बाद मुंडन संस्कार तथा तीन वर्ष के बाद कनछेदी होता है।

चेरो जनजाति में विवाह प्राय: 15-16 वर्ष की आयु में होता है। लड़का-लड़की की उम्र में दो-तीन साल का अन्तर जरूरी माना जाता है। इनके यहां विवाह के मुख्य दो प्रकार होते हैं पहला 'ढोला' और दूसरा 'चढ़ा'। ढोला विवाह लड़के के घर लड़की लाकर होता है जबकि चढ़ा विवाह में लड़की के घर में लड़का बारात लेकर आता है तब विवाह सम्पन्न होता है। इनके विवाह में ब्राह्मण मुख्य भूमिका निभाता है क्योंकि वही विवाह के कार्यक्रम संपन्न कराता है। इनके रीति-रिवाज मुख्यत: हिन्दुओं के जैसे होते हैं। चढ़ा विवाह इनके यहां अधिक खर्चीला होता है इसलिए धनी लोग ही इस विवाह को अपनाते हैं। इनके विवाह में

सिंदूरदान पांच बार होता है। चेरो प्राय: एक विवाही होते हैं लेकिन पत्नी के मर जाने या बांझ होने पर दूसरा विवाह भी करते हैं। इनके समाज में तलाक का भी प्रावधान है।

मृत्यु संस्कार को चेरो समाज में जीवन की एक स्वाभाविक घटना माना जाता है। ये शव का दाह-संस्कार करते हैं। विशेष परिस्थितियों में ही शव को गाड़ा जाता है, जैसे बच्चे की मृत्यु होने पर। शव जलाते समय मुखाग्नि देने का या अन्य रस्म हिन्दुओं के समान होते हैं। इनके यहां मृत्यु के बाद 9 दिनों तक छूत मानी जाती है।

चेरो समाज का धर्म हिन्दू धर्म के निकट दिखायी देता है। इनके धर्म और पर्व-त्योहार के बारे में **डॉ. बिमला चरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** टिप्पणी करते हुए कहते हैं – ''चेरो धर्म पर हिन्दू धर्म की गहरी छाप है।...ये शिव, देवी भगवती, हनुमान एवं अन्य हिन्दू देवी-देवता की पूजा करते हैं। इनका पुरोहित या पुजारी शाकद्वीपीय ब्राह्मण या गोसाईं होता है। इनके मुख्य पर्व सरहुल, सोहराई, करमा, जीतिया, दशहरा, दीवाली, छठ, होली, रामनवमी आदि हैं।''[9] यहां बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि चेरो समाज में बहुत हद तक हिन्दू धर्म को अपना लिया गया है, अब इसका कारण चाहे जो रहा हो। दूसरी तरफ ये लोग पहले पर्व-त्योहार पर नाचना पसंद करते थे लेकिन अब नहीं पसंद करते। चेरो भूत-प्रेत में आस्था रखते हैं और डायन में भी विश्वास करते हैं। इसके अलावा ये जादू-टोना, नजर-गुजर, टोटका, शकुन, अपशकुन को भी मानते हैं।

चेरो जनजाति लड़ाकू कौम है। ये जमींदार रहे, सिपाही रहे और अपने बाहु-बल पर जीविका चलाते रहे। इन्होंने कभी भी स्थानांतरित खेती नहीं की है और न ही शिकार या संग्रह पर ही निर्भर रहे हैं। लेकिन तब की बात और थी अब की बात और है, आज के समय में इनके हालात ठीक नहीं हैं। अब इनका मुख्य पेशा खेती है। जिनके पास खेती नहीं है, या है भी तो बहुत कम है, उनका जीवन यापन उससे नहीं होता है तो इनका एक उपपेशा मजदूरी भी है। ये जंगलों, खदानों, सड़क निर्माण आदि में मजदूरी करके अपनी जीविका चलाते हैं। गांव से सटी हुई जमीन पर खेती भी की जाती है। कुछ लोग अपनी दुकान चलाते हैं और छोटे-छोटे व्यापार करके भी अपना पेट भरते हैं।

इनके गांव में पंचायत भी होती है जो गांव, अंचल और मंडल स्तर पर काम करती है। गांव और अंचल स्तर पर पंचायत के प्रधान को मुखिया और जिला स्तर पर सभापति कहते हैं। हालांकि अब आधुनिक पंचायत की स्थापना हो गई है फिर भी ये परम्परागत पंचायतें प्रभावी हैं। पंचायत में गांव के विवादों का निपटारा होता है। पंचायत में आने वाले विवादों के बारे में **डॉ. बिमला चरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** लिखते हैं – ''अक्सर संपत्ति का बंटवारा, अवैध यौन संबंध, बलात्कार-व्यभिचार, छोटी-मोटी चोरी, तलाक, वैवाहिक मामले आदि का फैसला पंचायत में होता है। सभी परिवार का कर्ता व्यक्ति पंचायत का सदस्य होता है। फैसला सहमति होता है।''[10] फैसला होने के बाद दोषी पाये जाने वाले अपराधी पर दंड और जुर्माना भी

किया जाता है। इनके यहां शिक्षा का बहुत अभाव है। इसलिए भी ये लोग संसद तक नहीं पहुंच पाये हैं और न ही सरकार की तरफ से लागू की गयी योजनाओं का ही फायदा उठा पा रहे हैं।

5. खड़िया जनजाति

खड़िया जनजाति को आदिम संस्कृति का आधार माना जाता है। खड़िया जनजाति के तीन वर्ग हैं – पहाड़ी खड़िया, ढेलकी खड़िया और दूध खड़िया। हालांकि ये तीनों वर्ग आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर मिलते हैं। इनमें पहाड़ी खड़िया सबसे अधिक पिछड़ा वर्ग है और दूध खड़िया सबसे अधिक संपन्न। जो भी हो, दूध और ढेलकी खड़िया दोनों मिलकर एक सुसंबद्ध कबीला या समुदाय बन गये हैं। खड़िया के उत्पत्ति-स्थान के बारे में अनेक किवदंतियां एवं विद्वानों के अलग-अलग मत मिलते हैं। ऐसा कहा जाता है कि मध्य एशिया के किसी भाग से खड़िया के पूर्वज, जो प्रोटो-आस्ट्रेलायड थे, बरस्ता चीन-रगूंन भारत आए। झारखंड में आने से पहले ये अयोध्या, रोहतासगढ़-पटना क्षेत्र एवं दिल्ली में बसे रहे। इनका मूल स्थान रोहतासगढ़ क्षेत्र माना जाता है। इसके अलावा भी बहुत सारे मत हैं लेकिन ज्यादा उचित मत यही लगता है। खड़िया को प्रजातीय दृष्टि से प्रोटो-आस्ट्रेलायड समूह में रखा गया है। खड़िया झारखंड के पहाड़ियों के इर्द-गिर्द रहते हैं। इनकी बस्तियां पहाड़ पर या पहाड़ों से घिरे मैदान में भी हैं जो जंगलों से भरे हैं। खड़िया मुख्य रूप से सिमडेगा, गुमला, रांची, पूर्वी सिहंभूम, लातेरहाट, पश्चिमी सिहंभूम में पाये जाते हैं। इसके साथ ही कुछ संख्या में हजारीबाग, चतरा, कोडरमा, धनबाद, गिरिडीह, बोकारो, लोहरदगा तथा संथाल परगना के सभी जिलों में मिलते हैं। इनकी सबसे ज्यादा आबादी गुमला, सिमडेगा और सिंहभूम में मिलती है।

खड़िया जनजाति का जीवन-यापन – खड़िया का मुख्य निवास स्थान पुराना रांची (रांची, गुमला, सिमडेगा और लोहरदगा) है। झारखंड के बाहर बिहार के भागलपुर और पूर्णिया जिले तथा उड़ीसा एवं मध्यप्रदेश में ये काफी संख्या में मिलते हैं। इसके अलावा अन्य राज्यों में भी इनकी संख्या मिलती है। खड़िया के गांव कोयल और शंख नदी के दोनों किनारों पर बसे हुए हैं। इनके गांव में सरना, अखरा, तिलजंग (श्मशान), गितिओड़ा आदि होते हैं। पहाड़ी खड़िया के स्थाई रूप से गांव नहीं होते, ये 4-5 दर्जन परिवार एक साथ बसकर अधिवास (सेटलमेंट) का रूप दे देते हैं। खड़िया के घरेलू सामानों में खटिया, खजूर के पत्तों की चटाई, तुम्बा, मिट्टी के बर्तन, ढेकी आदि मुख्य हैं। पहाड़ी खड़िया में तो केवल एकल परिवार ही मिलता है लेकिन दूध और ढेलकी खड़िया में संयुक्त परिवार भी मिलते हैं। इनका परिवार पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृ आवासीय होता है। परिवार एक विवाही होता है लेकिन एक से अधिक पत्नी रखने की भी मान्यता है, जब पहली पत्नी बांझ हो तो। खड़िया समाज में स्त्रियों का स्थान सम्मानजनक होता है। खड़िया समाज कई टोटेम गोत्रों में बंटा हुआ है। ये बहिर्विवाही होते हैं। ढेलकी खड़िया के मुख्य गोत्र हैं जैसे

मुरमु, सोरेन, बागे, बारलिहा, चरहा, हंसदा, टोपनो, मैल या किरो। इसी तरह से दूध खड़िया के गोत्र डुंगडुंग, कुल्लू, बा, बिलुंग, सोरेंग, टेटे, किरो, करकेट्टा, किड़ो, कांकुल, गुलगु, जारू, बदेया, टेसा, हेम्ब्रोम आदि हैं। गोत्र की विवाह में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। एक गोत्र के लड़के-लड़कियों में विवाह वर्जित है।

खड़िया समाज में भी वही तीन संस्कार अपनाये जाते हैं जो अन्य दूसरी जनजातियों में अपनाये जाते हैं। इनके यहां जन्म संस्कार से लेकर मृत्यु तक कुछ विशेष संस्कार मनाये जाते हैं। बच्चे के जन्म लेने के कुछ ही दिन बाद बच्चे का मुंडन कर दिया जाता है। साथ में इनके यहां 6 दिनों पर छठ्ठी या 12 दिनों पर बरही मनायी जाती है। पहाड़ी खड़िया 9 दिनों तक छूत मानते हैं जबकि दूध-ढ़ेलकी खड़िया के यहां 6 दिनों तक छूत मानते हैं। इसके बाद विवाह भी इनके यहां एक महत्वपूर्ण संस्कार है । विवाह इनके यहां खाने-पीने, नाचने-गाने और खुशी मनाने का अवसर है। खड़िया समाज में लड़की का चुनाव लड़के के अभिभावक करते हैं। लड़की की सहेलियाँ उसे उस लड़के के घर ले जाती हैं, जिससे शादी पक्की कर ली जाती है। कन्या-मूल्य देने का भी रिवाज है। इसमें कुछ नगद, वस्त्र, लड़की का गहना आदि दिया जाता है। विवाह के समय नाच-गाना होता है। विवाह की रस्म तब तक पूरी नहीं होती है जब तक लड़का, लड़की के मांग में सिन्दूर नहीं भर देता है। ढेलकी और दूध खड़िया हिन्दू समाज से काफी प्रभावित हैं इसीलिए इनके विवाह की रस्म कुछ-कुछ हिन्दू विवाह से मिलती हैं जैसे न्योता चावल से देना और शादी से पहले मंगनी करना आदि। खड़िया समाज में कई तरह के विवाह प्रचलित हैं लेकिन सर्वमान्य व लोकप्रिय कन्या-मूल्य देकर विवाह करना ही है। इसे 'ओलोल-दाय' या 'असल विवाह' कहते हैं। इसके अलावे इनके यहां 'उधरा-उधरी' (सह-पलायन), 'तापा' या 'तनिला' (अपहरण), 'ढुकू-चोलकी' (अनाहूत), सगाई झींका या राजी-खुशी (प्रेम विवाह) आदि मनाये जाते हैं।

मृत्यु जीवन का अन्तिम संस्कार है। खड़िया समाज में शव को गाड़ने और जलाने की प्रथा है। अधिकांशत: तो इनके समाज में शव को दफना दिया जाता है। दाह संस्कार कुछ ही का हो पाता है। केवल विवाहित लोगों का ही शव जलाया जाता है तथा जो अविवाहित होते हैं उनका शव नियमत: गाड़ दिया जाता है। दाह संस्कार करने पर अस्थि चुनकर रख ली जाती हैं तथा बाद में पूर्वजों के गांव में 'हड़गोड़ा' (अस्थिस्थान) में गाड़ दिया जाता है या फिर नदी में बहा दिया जाता है।

खड़िया समाज में रक्त संबंधों व विवाह संबंधों के अलावा कुछ 'कृत्रिम' या गढ़े गये संबंधों की भी व्यवस्था है जैसे 'सहिया', 'गोई', 'यार' आदि। इनके यहां भी परिहास और परिहार संबंध होते हैं। खड़िया समाज में कला-संस्कृति के नाम पर लोककथा, लोकगीत तथा मिथक पाये जाते हैं जो सृष्टि की उत्पत्ति, धर्म आदि से संबंधित हैं। लड़के-लड़कियों के खेल-कूद भी हैं। ये बांस की बांसुरी पर खुदाई, दरवाजा-पल्ला पर लकड़ी की कला में दक्ष हैं। खड़िया समाज में नाच-गाना का बड़ा शौक है। इनके नृत्य गीत मौसम के अनुसार

बदल जाते हैं। नृत्य में स्त्री-पुरुष दोनों साथ-साथ नाचते हैं। मांदर की थाप पर और गीत के लय-ताल पर नर्तकों के पैर थिरकते रहते हैं।

खड़िया समाज में धर्म और पर्व-त्योहार का अपना महत्व है। खड़िया धर्म जड़वाद और प्रकृति पूजा का मिश्रित रूप है। इनकी आस्था एक अदृश्य एवं अलौकिक शक्ति में है जिसकी पूजा करते हैं और बलि भी चढ़ाते हैं। इनका सर्वोच्च देवता 'बेडो' (सूर्य) है जो मुंडा के सिंगबोंगा या उरांव के धर्मेश देवता के समकक्ष होता है। इसके साथ ही अन्य देवी-देवता के रूप में 'पाटदूबो' 'उड़हा दूंबो', 'गुमी' और 'बोराम' आदि को मानते हैं। इनका पुजारी या धार्मिक प्रधान 'कोला' कहलाता है। पहाड़ी खड़िया इसे 'दिउरी' कहते हैं। खड़िया पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। चुड़ैल और मुआ में भी विश्वास करते हैं। रोग या संकट के काल में ये ओझा से मदद लेते हैं। ये लोग जादू-टोना में भी विश्वास करते हैं। खड़िया समाज के ज्यादातर लोग ईसाई धर्म को अपना लिये हैं। इसलिए इन लोगों का धार्मिक कार्य चर्च द्वारा नियंत्रित होता है। इसके अलावा कुछ लोगों ने हिन्दू धर्म को भी स्वीकार कर लिया है और बहुत कम लोग ही अपने जनजातीय धर्म को मानते हैं। खड़िया के पर्व-त्योहार अधिकांशत: कृषि कार्य एवं अन्य आर्थिक क्रियाकलापों जैसे शिकार, संग्रह आदि से जुड़े हैं। इनके मुख्य पर्व हैं 'बा बिड', बंगारी, कादो लेटा, नयोदेम आदि।

खड़िया समाज के लोग बहु-धंधी होते हैं। जीविका के मुख्य स्त्रोत कृषि, संग्रह और मजदूरी है। शिकार करना या मछली मारना इनका गौड़ धंधा है। मजदूरी इनका एक महत्वपूर्ण उपपेशा है। पहाड़ी खड़िया झूम खेती करते हैं और वन-उत्पाद, जैसे कंद-मूल, फल-फूल, साग-पात, मधु आदि संग्रह करते हैं जिससे अपनी जीविका चलाते हैं। ये लोग सूत भी काटते हैं। कुछ खड़िया चाय बगानों में भी मजदूरी करते हैं।

खड़िया लोगों का पहनावा बहुत ही साधारण होता है। बड़े बच्चे लंगोटी पहनते हैं और छोटे बच्चे नंगे घूमते हैं। बड़े लोग भगवा और करधनी पहनते हैं। स्त्रियां लहंगा और रागो पहनती हैं। ये अपना श्रृंगार फूलों और पत्तों से करती हैं तथा इनके आभूषण कम और सस्ते होते हैं। प्राय: गहने पीतल के बने होते हैं।

राजनैतिक तौर पर देखा जाय तो इनके यहां गांव में पंचायत होती है। पंचायत में एक मुखिया होता है जो 'प्रधान' कहलाता है। इसका एक सहायक भी होता है जिसे 'नेगी' कहा जाता है। इसके साथ ही एक संदेश वाहक होता है जिसे 'गंडा' कहते हैं। पंचायत के कार्यक्रम के बारे में **डॉ. बिमलाचरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** ने टिप्पणी करते हुए अपनी पुस्तक में लिखा है – ''पंचायत का मुख्य कार्य जाति के रीति-रिवाजों को निर्धारित करना, उनका संचालन और नियंत्रण करना, उसके उल्लंघन करने वालों को दंडित करना, किसी दोष के कारण निष्कासित व्यक्ति या परिवार को पुन: समाज में शामिल करना, उत्तराधिकार के झगड़ों को निपटाना आदि हैं।''[11] खड़िया समाज में शिक्षा का अभाव है हालांकि ईसाईयों के संपर्क में आने

के बाद इनके यहां शिक्षा में कुछ प्रतिशत बढ़ा है। कुछ शिक्षक तथा सरकारी नौकरी में भी हैं। इसके साथ ही राजनीतिक, जागरूकता व चेतना आ रही है।

6. उराँव जनजाति

उराँव जनजाति झारखंड की एक महत्वपूर्ण एवं बहुसंख्यक जनजाति है। संथाल के बाद इसका दूसरा स्थान है। उराँव मुख्यत: पुराने जिले राँची, पलामू, हजारीबाग, सिंहभूम तथा संथाल परगना में बसे हुए हैं। उराँव की उत्पत्ति के बारे में एक उराँव लोक-कथा में कहा गया है कि उराँव एक तपस्यारत मुनि के 'उर' के खून से पैदा हुए और मुनि ने ही उन्हें कहा था कि तुम खेतिहर बनोगे। जंगल को साफ करके उसमें खेती करोगे। यही तुम्हारा पेशा होगा। वैसे उराँव की उत्पत्ति के संबंध में बहुत से विद्वानों ने अपने हिसाब से कथाओं से, पुराणों से, रामायण से, पौराणिक साहित्य से और तो और कुछ विद्वानों ने तो इन्हें रावण शब्द से भी जोडा है। उराँव जनजाति के भाषा के बारे में **डॉ.ए.आर.एन. श्रीवास्तव** लिखते हैं – उराँव की भाषा 'कुरुख' कहलाती है जो के द्रविड़ भाषा परिवार का एक उप परिवार है।''[12] कहीं-कहीं उराँव को 'कोड़ा' भी कहा जाता है। उड़ीसा में 'कुडुख' को कहीं 'धांगर' और कहीं 'किसान' के रूप में जाना जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि रोहतासगढ़ से विस्थापित होने पर ये दो भागों में बंट गये। एक शाखा जिसे 'माले' कहा गया, राजमहल में जा बसी, दूसरी शाखा सोन पार कर, उत्तरी कोयल नदी के ऊपर से पलामू होते हुए छोटानागपुर में प्रवेश कर गयी।

उराँव जनजाति का जीवन-यापन – उराँव जिस क्षेत्र में निवास करते हैं, वह इलाका ऊबड़-खाबड़, नदी-नालों से खंडित, जंगलों से परिपूर्ण तथा ऊंची-नीची पहाड़ियों से घिरा होता है जिसे घेरा पहाड़ कहते हैं। पहाड़ों के ऊपर छोटे गांव तथा मैदानी इलाके में बढ़ी फैली बस्तियां होती हैं। इनके गांव में जातियां भी मिलती हैं जैसे कुम्हार, गोंड़ाइत, चीक बड़ाइक आदि क्योंकि ये खेती के अलावा दूसरे कामों को नीचा समझते हैं। इनके घर बेतरतीब ढंग से बने होते हैं। इनके एक साथ में दो घर बने होते हैं एक बड़ा और दूसरा झोपड़ीनुमा जो गोशाला के रूप में प्रयोग होती है। संपन्न उराँव के घर पक्के बने होते हैं। इनके घरेलू बर्तनों में पीतल की थाली, डुभा, लोटा आदि पाये जाते हैं। उराँव का मुख्य भोजन भात और साग सब्जी है। गोंदली, मडुआ, जंगली कंद-मूल, साग-पात आदि भी खाते हैं। ये मांसाहारी भी होते हैं। संपन्न उराँव तो तरह-तरह की दाल, सब्जी, अंडा, मुर्गी आदि खाते हैं।

इनका पहनावा बहुत ही साधारण है। पुरुष धोती-गंजी का प्रयोग करते हैं। कमर में डंडा (कमरधनी) पहनते हैं। परंपरागत 'केरया' (लंबा-चौड़ा कपड़ा) आज भी प्रचलन में है। महिलाएं साड़ी और 'खनरिया' पहनती हैं। इसके अलावा ये अब साड़ी, साया, चोली आदि का प्रयोग करने लगी हैं। छोटे बच्चे केवल गंजी और बड़े बच्चे केरया या पैंट पहनते हैं। शहरी संपर्क के कारण अब उराँव स्त्रियाँ रंगीन साड़ी,

पेटीकोट और ब्लाउज पहनने लगी हैं। संपन्न घर की औरतें सोना-चांदी के आभूषण प्रयोग में लाती हैं। इनके यहां गोदना की प्रथा चलती है। 7-8 वर्ष की उम्र में ही लड़कियां अपने ललाट पर तीन धारियां और कनपटी पर दो धारियां गोदवा लेती हैं।

उराँव जाति की मूल एवं सबसे छोटी सामाजिक इकाई परिवार है। परिवार से ही अन्य सारे संगठन बनते हैं। उराँव परिवार पितृसत्तात्मक एवं पितृवंशीय होता है। पिता ही घर का मालिक होता है। घर के सारे काम उसकी इच्छा, सहमति और सहयोग से होते हैं। इनके समाज में ज्यादातर एकल परिवार पाये जाते हैं, संयुक्त परिवार बहुत कम मिलते हैं। उत्तराधिकार पितृवंशीय होता है। पैतृक संपत्ति में लड़कियों का हिस्सा नहीं होता है। यहां भी जेष्ठांग भाग बड़े लड़के को दिया जाता है। इनके समाज में एक पत्नी रखने की स्वीकृति है लेकिन यदि पहली पत्नी बांझ है तो दूसरी पत्नी रखने का प्रावधान है। उराँव विवाह के उद्देश्य से कई गोत्रों में बंटे हुए हैं जिनके टोटेम नाम स्वभाविक रूप से अतीत और वर्तमान प्राकृतावास के पेड़-पौधों, पशुओं, पक्षियों से मिले हैं। कुछ गोत्रों के नाम इस प्रकार हैं – भुखला, तिर्की, कच्छप, मिंज, खलखो, एक्का, तिरु, अइन्द, लिंडा, खाखा, केरकेट्टा, कोकरो, लकड़ा, गाड़ी, टोप्पो, बाड़ा, खेस, मुंजनी, कुजूर, बेक, पन्ना आदि। इनके यहां विवाह और रक्त संबंधों को छोड़कर कृत्रिम संबंधों का भी बहुत महत्व है। इनके समाज में धनकटनी के बाद सहिया-चयन समारोह होता है जिसमें विभिन्न गांव एवं गोत्रों की विवाहित स्त्रियां दूसरे गांव एवं गोत्र की विवाहिता स्त्री को अपना 'सहिया' चुनती हैं। इसके अतिरिक्त कुंवारी लड़कियों में भी रिश्ता बनाने की एक अलग प्रक्रिया है। इसमें एक गांव की कुंवारी लड़कियां आपस में 'गोई' या करमडार आदि के रूप में अपनी सहेली को चुनती हैं। ये रिश्ता विवाह होने के बाद तक चलता रहता है। इसी तरह लड़कों में मित्रता बनाने की प्रक्रिया को 'लार' और 'संगी' कहा जाता है। इसके साथ ही इनके यहां भी परिहार और परिहास संबंध पाये जाते हैं। इनके गांव में धुमकुड़िया पाया जाता है जो जनजातीय प्रशिक्षण का केन्द्र होता था। धुमकुड़िया में जनजातीय रीति-रिवाज, परंपरा, लोकगीत, लोकनृत्य, लोक-संस्कृति, आस्था-विश्वास आदि से परिचय कराते हुए व्यावहारिक ज्ञान दिया जाता था लेकिन अब यह नाममात्र ही देखने को मिलते हैं। दूसरी तरफ इनके गांव में अखड़ा जैसी एक महत्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था पायी जाती है। यह प्राकृतिक सौन्दर्य से भरी एक खुली जगह होती है। इस अखड़ा में प्राय: हर रात घंटे-दो घंटे के लिए नाच-गान होता है। पर्व-त्योहार के समय यहां पूरा दिन नाच-गान चलता रहता है।

उराँव समाज में जीवन की तीन घटनाएं बहुत ही मुख्य होती हैं। ये तीन घटनाएं हैं जन्म, विवाह और मृत्यु। जन्म जीवन का प्रारम्भिक बिन्दु है। ये अपने आपको प्रेतात्माओं से घिरा हुआ समझते हैं इसलिए गर्भवती स्त्री को अकेले कहीं नहीं जाने देते हैं। इनके समाज में प्रसव घर में ही होता है। जन्म होने के बाद पाहन (गांव का पुजारी) को बुलाकर मुख्य ग्राम-देवता पर बलि चढ़ाई जाती है। जन्म छूत 5 दिनों तक या

कहीं-कहीं 8-9 दिनों तक माना जाता है। एक महीने के अन्दर में ही बच्चे का नामकरण होता है, दो वर्ष बाद मुंडन और तीन वर्ष बाद कनछेदी संस्कार होता है।

उराँव समाज में समगोत्रीय विवाह नहीं होता है, अपनी जाति के बाहर दूसरी जनजाति या गैर-जनजाति में विवाह वर्जित है। उराँव समाज में विवाह मुख्यत: बहिर्गोत्र के आधार पर संचालित होता है फिर भी तीन पीढ़ी तक रक्त संबंध में विवाह नहीं किया जाता है, चाहे वह विभिन्न गोत्र के ही क्यों न हों। इनके समाज में विधवा विवाह खूब प्रचलित है। विधवा पहले अपने देवर को प्राथमिकता देती है। उसके इंकार करने पर वह दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लेती है। इनके यहां तलाक की छूट पति-पत्नी दोनों को है। उराँव के यहां विवाह का सबसे प्रचलित रूप आयोजित विवाह है। जिसमें विवाह का प्रस्ताव लड़का पक्ष की तरफ से रखा जाता है और वधू-मूल्य देकर विवाह संपन्न कराया जाता है। इसके अतिरिक्त इनके यहां सेवा विवाह, गोलट (विनिमय विवाह) आदि के भी उदाहरण देखने को मिलते हैं।

मृत्यु जीवन का अन्तिम पड़ाव है। मृत्यु को उराँव स्वाभाविक मानते हैं किन्तु अकाल मृत्यु को अच्छा नहीं मानते हैं। इसके लिए इनका मानना है कि मृत्यु का एक समय होता है इससे पहले मर जाने पर जब तक आयु पूरी नहीं हो जाती, आत्मा यहीं भटकती रहती है । ये लोग शव का दाह-संस्कार करते हैं। छोटे बच्चे, गर्भवती स्त्री या कुष्ट आदि रोग से मरे व्यक्ति की लाश को नहीं जलाया जाता है बल्कि उसे नदी में फेंक दिया जाता है।

उराँव का धर्म मिला-जुला धर्म है उसके धर्म पर हिन्दू धर्म का बहुत गहरा प्रभाव है। ये ईसाई धर्म को अपना लिए हैं। इनका अपना सरना धर्म पीछे छूटता जा रहा है। इनके धर्मान्तरण पर टिप्पणी करते हुए **डॉ. बिमला चरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** लिखते हैं – ''इनका धर्मातंरण या ईसाईकरण हुआ है। सरना धर्म छूटता जा रहा है। फिर भी जनजातीय धार्मिक अनुष्ठान लगभग सभी धर्मों के उराँव द्वारा समादृत हैं। उरांव को तीन धार्मिक वर्गों में रखा जा सकता है हिन्दू, सरना एवं ईसाई।''[13] इनके मुख्य देवता 'धर्मेश', सिंगबोंगा या सूर्य हैं। अन्य देवी-देवता के रूप में ये मरंग बुरु, ठाकुर देव, डीहवार, पूर्वजात्मा आदि हैं। इनके यहां बकरा, भेड़ बकरी आदि की बलि चढ़ाई जाती है।

ये अपना जीवकोपार्जन कृषि करके चलाते हैं। प्रत्येक उराँव परिवार के पास थोड़ी-बहुत कृषि भूमि है। इनकी खेती भूमि दो प्रकार की होती है एक टांड और दूसरी दोन। टांड बहुत उपजाऊ भूमि होती है और दोन कम उपजाऊ होती है। इनके जीविका के मुख्य स्रोत के बारे में **डॉ.बिमला चरण शर्मा** और **कीर्ति बिक्रम** लिखते हैं ''खेती से सालों भर का भोजन जुटा पाना संभव नहीं है। इसलिए उराँवों ने शिकार, मछली मारने, जंगलों से वनोत्पाद संग्रह करने तथा कुछ शिल्प-निर्माण एवं पशु पालन को उपपेशा के रूप में अपना लिया है। इसके अतिरिक्त मजदूरी भी आय व जीविका का महत्वपूर्ण स्त्रोत है।''[14]

उराँव भुईहर या मूल अधिवासी, प्रकार्य के चलते दो खूंट में खंडित हो जाते हैं – पाहन और महतो या मुंडा खूंट। महतो खूंट का ही गांव का महतो और पाहन खूंट का पाहन बनता है जो पुजारी होता है। महतो गांव का मुखिया होता है जो गांव का सामाजिक-प्रशासनिक प्रबंधन करता है। पाहन और महतो दोनों गांव के प्रमुख आधिकारी होते हैं। गांव की पंचायत का महतो अध्यक्ष होता है इसके साथ ही इसमें वरिष्ठ पांच सदस्य और होते हैं। इस पंचायत में संपत्ति के बंटवारे, विवाह संबंधी विवाद, यौन-अपराध, निषेध उल्लंघन, मार-पीट और चोरी के मामलों का निपटारा किया जाता है। अब इनमें राजनीतिक चेतना का विकास हो गया है। कुछ लोग तो सांसद, विधायक, मंत्री, राजनेता, भारतीय पुलिस आदि पदों पर अपना वर्चस्व बना चुके हैं। इनके यहां भी शिक्षा का अभाव है लेकिन दूसरी जनजातियों से शिक्षा के प्रति अधिक चेतना है। शिक्षा इनके बीच बढ़ी है, चेतना जगी है। फिर भी इनके जीवन में अभाव, असुविधा, अशिक्षा, अज्ञानता, अंधविश्वास, असंतोष और अधूरापन बना हुआ है।

भारत के आदिवासियों के जीवन-शैली का गहराई से अध्ययन करने के बाद हमें आदिवासी समाज में बहुत कुछ समानताएं देखने को मिलती हैं। आदिवासियों का रहन-सहन, उनका नृत्य, संगीत, उनका अर्थतंत्र, उनका प्रकृति से लगाव, उनकी संस्कृति सब कुछ प्रकृति के सामंजस्य और तालमेल से संचालित होता है। यह भारत के प्रत्येक क्षेत्र के आदिवासियों की जीवन-शैली में देखने को मिल जायेगा। यद्यपि ये लोग बहुत कम साक्षर होते हैं लेकिन वनों से अपनी जीविका के साधनों को ढूंढ निकालना वास्तव में एक वैज्ञानिक सोच है, वह बिना वजह जंगलों को नुकसान नहीं पहुँचाते, उनमें संचय करने की प्रवृत्ति नहीं होती, इसके साथ ही पर्यावरण को सुरक्षित रखने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह सब कुछ उनके जीवन जीने की कला में ही मौजूद होता है। वह प्रकृति को अपनी मां के समान उसके साथ संबंध रखते हैं, उसकी पूजा करते हैं। पूरे भारत के आदिवासियों की जीविका का आधार उनके जल, जंगल और जमीन ही है। इनका मुख्य पेशा जंगल को काटकर खेती करना है।

आदिवासी जीवन की समस्याएं

भारत के मूल निवासी आदिवासी माने जाते हैं, लेकिन अनेक कारणों से विकास की धारा में इनकी रफ्तार मन्द पड़ती गयी। बाहर से आने वाले लोगों ने आदिवासियों को ही दोयम दर्जे का नागरिक माना और जिस जल, जंगल, जमीन पर आदिवासियों का आधिकार था, उसे ही क्षेत्रफल में छोटा करते चले गये। नयी शिक्षा पद्धति, नई संस्कृति और प्रगति के नये-नये मानकों के आगे आदिवासी पिछड़ते गये। आज जब हम भारत के आदिवासी समाज पर एक दृष्टि डालते हैं तो हमें स्पष्ट वर्ग विभाजन दिखाई देता है। कई लोगों का मानना है कि भारत के हर क्षेत्र के आदिवासियों की समस्याएं एक-सी हैं लेकिन जब हम आदिवासी समाज का गहन अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि आदिवासी समाज की समस्या का अध्ययन हाँड़ी से सिर्फ

एक चावल देखने का सिद्धान्त नहीं है बल्कि क्षेत्रीय आधार पर आदिवासियों की समस्याओं में अन्तर भी है। जिसके कारण हम यहां पर पूरे भारत के आदिवासियों की मुख्य और समान समस्याओं पर चर्चा करेंगे।

आज भारत में आदिवासियों की संख्या अधिक है फिर भी आदिवासी विकास से कोसों दूर हैं। आदिवासी पूर्ण रूप से स्वतंत्र रहना चाहता है और अपनी जीवन-शैली में किसी को दखल करने की इजाजत नहीं देता है इसलिए आदिवासियों का विकास करना और उन्हें राष्ट्र की धारा से जोड़ना एक बड़ी समस्या है। दरअसल आदिवासी समाज प्रकृति के बीच रहकर ही अपना जीवन-यापन करता रहा है। आदिवासियों का प्रकृति से अटूट रिश्ता है। इस रिश्ते के बारे में **पी. आर. नायडू** लिखते हैं – ''प्रकृति से यह रिश्ता उनकी समूची दिनचर्या और तमाम रस्मों, रीति-रिवाजों में प्रखरता से व्यक्त होता है। आदिवासियों का रहन-सहन उनका नृत्य-संगीत, उनकी सामाजिक व्यवस्था, उनका अर्थ-तंत्र, उनकी संस्कृति सब विलक्षण और आकर्षित करने वाला है। धरती, पेड़, पर्वत, नदी, झरने और पशु-पक्षियों से विखंडित दुनिया नहीं है, और यदि वह है भी तो आज की शहरी मानसिकता से एकदम अलग है।''[15] लेकिन वर्तमान समय में प्रकृति की गोद में चैन की सांस लेने वाले आदिवासियों के ऊपर 'उपभोक्तावादी संस्कृति', 'मीडिया संस्कृति' और 'इण्टरनेट क्रान्ति' का कुप्रभाव पड़ रहा है। वह 'उपभोक्तावादी संस्कृति' के नित-नए प्रलोभनों के चलते 'दिकुओं' के साजिशों में फँसते जा रहे हैं।

स्वतंत्रता के बाद आदिवासियों को देश की मुख्यधारा से जोड़ने के लिए अनेक प्रयास किए गये। प्रथम पंचवर्षीय योजना से लेकर बारहवीं पंचवर्षीय योजना तक लगातार आदिवासी कल्याण कार्यक्रम के नाम करोड़ों रूपये व्यय किये गये लेकिन आदिवासियों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया। आदिवासियों की समस्याओं में सबसे अहम है 'शिक्षा की समस्या'। ''भारतीय संविधान के अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य शासन की जिम्मेदारी है कि कमजोर वर्गों विशेषकर आदिवासियों की शिक्षा से संबंधित गतिविधियों में तेजी से विस्तार करें। भारतीय संविधान में निहित इसी भावना के अनुकूल राज्य शासन का आदिम जाति कल्याण विभाग आदिवासी क्षेत्रों में शैक्षणिक गतिविधियों का संचालन कर रहा है।''[16]

'रेणुका राय कमेटी' (1959) ने आदिवासियों के विकास की समीक्षा की और आदिवासियों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर बल दिया। 'आर.पी. नरोन्हा कमेटी' (1964) ने सिफारिश की कि आदिवासियों को शिक्षित करने का दायित्व आदिम जाति कल्याण विभाग को दे देना चाहिए। इस सिफारिश को मान लिया गया और स्कूली शिक्षा की जिम्मेदारी आदिम जाति कल्याण विभाग को सौंप दी गयी। आज आदिवासियों को नि:शुल्क किताबें, नि:शुल्क ड्रेस, दोपहर का भोजन और शुल्कमुक्त शिक्षा प्रदान की जा रही है। मध्यप्रदेश के बच्चों को ''शिक्षा के प्रति आकर्षित करने के लिए वर्ष 1981-82 से उनकी मातृभाषा में शिक्षा देने की एक योजना प्रायोगिक तौर पर शुरू की गयी जिसके अन्तर्गत मध्यप्रदेश में पांच प्रमुख आदिवासी बोलियों हल्वी, गोड़ी, भीली, कुड़कू और कोरकू में 20-20 प्राथमिक शालाओं में कक्षा 1 से 3 तक शिक्षा

देने की व्यवस्था की गयी। इन बोलियों में पढ़ाई के लिए पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार कर उपलब्ध कराई जा रही हैं।''[17] कहने का अर्थ यह है कि सरकार की तरफ से आदिवासियों की शिक्षा पर ध्यान दिया जा रहा है लेकिन यह प्रयास नाकाफी है। दूसरी तरफ अगर हम मध्य भारत (झारखंड, राजस्थान आदि) के आदिवासियों को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि वहां आज भी शिक्षा उनको अपनी भाषा में न देकर, प्रदेश की भाषा में दी जाती है। जबकि भाषा का प्रश्न तो आदिवासियों की अस्मिता से जुड़ा हुआ है। राजस्थान की भील जनजाति 'स' को 'च' बोलती है। हजारीबाग का आदिवासी 'य' को 'अ' बोलता है। किसी स्कूल में जब भील का बेटा पढ़ने जाता है और 'सड़क' को 'चड़क' बोलता है तथा हजारीबाग और रांची में 'याद' को 'आद' बोलता है तो बाकी हिंदीभाषी बच्चे उसे चिढ़ाते हैं और वह स्कूल छोड़कर वापस चला जाता है।

इसके साथ ही दूसरी तरफ झारखंड में देखें तो स्कूल आदिवासियों के नाम पर खोले गये लेकिन वहां पढ़ते सिर्फ गैरआदिवासी ही हैं। इस तरह से हमारी सरकार के द्वारा आदिवासियों के लिए शिक्षा पर योजनाएं बनाई जा रही हैं, जहां योजना तो आदिवासियों के नाम बनाई जा रही है लेकिन उसका भरपूर फायदा गैरआदिवासी ही उठाते हैं। इन स्कूलों में वास्तव में गैरआदिवासी बच्चों का ही धड़ल्ले से दाखिला हो रहा है और आदिवासी बच्चों का तो उसमें नाम ही नहीं लिखा जाता है। आदिवीसियों के लिए बनाये गये सुविधाजनक स्कूल में आदिवासियों को ही दाखिला न देने का आखिर कारण क्या है? मेरे विचार से गैरआदिवासी यह समझते हैं कि दिन-रात नशे में डूबा रहने वाला आदिवासी आर्थिक-सामाजिक तौर पर सम्पन्न हो जाएगा तो उन्हें हर क्षेत्र में दावेदारी की चुनौती मिलेगी। जबकि उन सुविधाजनक स्कूल बनाने के चक्कर में उन्हें उनकी ही जमीन से विस्थापित कर दिया जाता है। विडम्बना यह है कि उन्हें न तो मुआवजा दिया जाता है और न ही उनके पुनर्वास की ही व्यवस्था की जाती है। जिसके कारण वह उससे दूर अपनी जैसै-तैसे जिन्दगी गुजारने को मजबूर हैं। इन्हीं कारणों से आदिवासी समाज की स्थिति और बदतर हो गई है।

सभी समाजों की तरह आदिवासियों में भी भाषा का अस्तित्व बहुत पुराना रहा है लेकिन आदिवासियों ने कोई लिपि विकसित नहीं की थी जिससे शिक्षा का प्रचार-प्रसार उनके बीच नहीं हो सका। मुख्यधारा के लोगों की तरह इन्होंने कोई साहित्य विकसित नहीं किया। आदिवासियों की सारी परम्पराएं लोक परम्पराएं हैं। **डॉ. वीर भारत तलवार** लिखते हैं – ''उनके यहां तो सिर्फ सौ-डेढ़ सौ साल पहले भाषा को लिखित रूप देने का चलन अंग्रेज मिशनरियों ने आकर चलाया, वह भी रोमन लिपि में, क्योंकि किसी भी आदिवासी भाषा की अपनी लिपि नहीं थी जबकि आर्य भाषाओं में लिपियों के विकास की भी प्राचीन परम्परा थी। स्थिति यह है कि आज भी ज्यादातर आदिवासी भाषाओं की अपनी स्वतंत्र लिपि नहीं है। यह बात छोटी और बड़ी, दोनों तरह की आदिवासी जातियों की भाषाओं पर लागू होती है।''[18]

इसके साथ ही आदिवासियों को अशिक्षित बनाये रखने में उनके परिवेश की भी कुछ हद तक भूमिका दिखाई देती है क्योंकि मुख्यधारा के जीवन मुल्यों, संस्कारों, भौतिक परिवेश और आदिवासियों के

जीवन मुल्यों, परिवेश और संस्कार विपरीत ध्रुव बनाते हैं। जिनका आधुनिक शिक्षा देने वाले सरकारी-गैरसरकारी स्कूलों-कॉलेजों से कोई मेल नहीं बैठता है। आदिवासी सरकारी पाठ्य-पुस्तकों में अपने परिवेश की झलक नहीं पाते हैं। उन्हें लगता है कि ये किताबें किसी दूसरे संसार की बातों को व्यक्त कर रही हैं। **रमणिका गुप्ता** अपने एक लेख में पाठ्यक्रम के बारे में लिखती हैं – ''आदिवासियों की अशिक्षा का दूसरा कारण है – स्कूलों में आदिवासी अस्मिता-विरोधी या असंबद्ध तथा अप्रचलित पाठ्यक्रम का होना। राजस्थान के एक प्राइमरी स्कूल की पुस्तिका में लिखा है – 'भील एक चोर होता है।' देश के हिंदी क्षेत्रों के स्कूलों में या अन्य हिस्सों में पढ़ाया जाता है कि वे दैत्य या दानव हैं। पूरी रामायण इनकी अवमानना की गाथा है तो महाभारत इन्हें ठगने का वृत्तांत। इस प्रकार के पाठ्यक्रम के माध्यम से उन्हें अपमानित किया जाता है। फलत: यह उनके मन में बाकी सबके प्रति संदेह और उनके अपने भीतर हीनताबोध पैदा करता है।''[19] स्पष्ट है कि ये किताबें उनके लिए एक पराया संसार बुनती हैं जिससे उन्हें अरूचि होती है और ड्राप आउट बढ़ता है। आज आदिवासियों में शिक्षा का स्तर बढ़ाने के लिए एक नई शिक्षा की परिकल्पना करनी पड़ेगी जो आदिवासियों के परम्परागत स्वरूप से मेल खाता हो। ऐसी पाठ्य-पुस्तक का निर्माण करना चाहिए जो आदिवासी समाज और परिवेश के अनुसार हो। तभी हम उन्हें शिक्षित करके आगे बढ़ा सकेंगे। ''अज्ञान, शोषण, गरीबी और पिछड़ेपन में से सबसे प्रमुख कारण है आदिवासियों का अशिक्षित होना। जो प्रशिक्षित हैं, उन्नति के विभिन्न अवसरों का लाभ भी नहीं उठा पाते। यह स्थिति आदिवासियों के संदर्भ में विशेष रूप से देखी जा सकती है। वे पिछड़े शोषित और गरीब इसी कारण हैं कि उन तक शिक्षा की रोशनी नहीं पहुँच पायी है और वे अशिक्षा के अन्धकार में भटकते हैं सामान्य समाज से अलग-थलग पड़ गये। इसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि स्वतंत्रता के पश्चात विकास के जो अवसर समाज को मिले, उसका पूरा लाभ आदिवासी नहीं उठा पाए।''[20] इन्हीं करणों से ही आदिवासी आज भी बहुत ही कम संख्या में साक्षर हो पाये हैं। और आदिवासियों के अशिक्षित होने के कारण ही उनसे सादे कागज पर ठेपा लगवाकर उनकी जमीन उनसे छीन ली जाती है। हर रोज आदिवासियों को अवैध खनन के लिए फुसलाया जाता है और उनकी जमीन हड़पी जाती है। आये दिन उनके (अखड़ा) पंचायत में इसी समस्या पर चर्चा होती रहती है कि फलां-फलां लोगों ने खदान दलाल के सादे कागज पर ठेपा लगा दिया है।

आदिवासी समाज के लिए विकास का जो मायने है वह परम्परागत विकास से अलग है। आदिवासी समाज का विकास आदिवासी समाज के हिसाब से ही किया जाना जरूरी है। इसके पीछे मुख्य वजह है उनकी सामाजिक व्यवस्था। लेकिन अफसोस है कि आदिवासी क्षेत्रों के विकास की जिम्मेदारी उन लोगों ने संभाल रखी है जो आदिवासी समाज को ही नहीं समझते हैं। **नेहरू** अपने भाषण में इस बात पर जोर देते हैं – ''यदि सामान्य कारकों को अपना काम करने दिया जाए तो बाहर के बेईमान लोग उनकी सारी जमीन और जंगल हड़पकर जनजातीय लोगों के जीवन में हस्तक्षेप करने लगेंगे।''[21] आज विकास के नाम पर आदिवासियों को जंगल से भगाया जा रह है और यदि वह उसका प्रतिवाद करते हैं तो वह सरकार की नजर में

माओवादी हैं। यानी कि इस समाज में विरोध का भी उन्हें हक नहीं है। अब सवाल यह उठता है कि एक तरफ विकास के नाम पर सारे प्रोजेक्ट उन्हीं इलाकों में लगाये जा रहे हैं जहां प्राकृतिक सम्पदा खूब है। चाहे वह बड़े बांधों का निर्माण हो या पावर प्रोजेक्ट या परमाणु संयंत्र। यानी कि विकास का पूरा मॉडल इन्हीं के बीच स्थापित किया जाना जरूरी है। यह षडयंत्र एक समाज के खिलाफ चलाया जा रहा है। इस विकास के पैमाने के बारे में विचार करें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। 'हमने विपुलता (ऐलुऐंस) को विकास मानदण्ड माना है। जिस समाज के पास भोग की जितनी अधिक वस्तुएं होंगी, वह उतना ही अधिक विकसित माना जाएगा। किंतु ये भोग की वस्तुएं आखिर आएंगी कहां से? इन सबका भण्डार तो पृथ्वी ही है, चाहे ये अनाधिकृत साधन धातु, खनिज, तेल हों और चाहे चारागाह, वन कृषि-भूमि व समुद्र जैसे नवीकृत होने वाले साधन हों। विपुलता वाले विकास के लिए मनुष्य ने तकनीकी के मदद से प्रकृति के भंडारों का असीमित दोहन किया है। आज जो वैभव दिखाई देता है, वह स्वाभाविक नहीं है।'[22] लेकिन विकास के नाम पर यह सब किया जा रहा है जो पर्यावरण के हिसाब से भी ठीक नहीं है। विकास के नाम पर कुछ बहुराष्ट्रीय कंपनियों को लाभ दिया जा रहा है। सवाल यहां विकास का नहीं है अपितु विकास जिस तरह से हो रहा है उसका है। 'राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हितों को साधने के लिए बड़े पैमाने पर आदिवासियों के गाँवों को उजाड़ने का अभियान चला हुआ है। जिनसे आदिवासियों का अस्तित्व ही खत्म होने का खतरा दिख रहा है। इस खतरे के खिलाफ कारगर ढंग से लड़ने वाली कोई शक्ति उठ खड़ी होती नहीं दिख रही है। जब आदिवासियों का अस्तित्व ही नहीं बचेगा तो फिर वे अपनी अस्मिता कहां से मूर्त करेंगे? यही विडंबना है जिसने हमारे स्वप्नों और यथार्थ के बीच भारी अन्तर्विरोध खड़ा कर दिया है।'[23] ऐसे हालात में इस तथाकथित विकास का आदिवासियों ने विरोध किया तो उन्हें माओवादी बना दिया जाता है। वैसे यह मुख्यधारा की साजिश रही है कि अगर कोई तुम्हारे फायदे के रास्ते में पत्थर की तरह अडिग रहे तो पहले उसकी छवि खराब करो और बाद में उसका अस्तित्व ही खत्म कर दो। यह कोई आज की बात नहीं है बल्कि यह प्राचीन समय से चली आ रही एक परम्परा बन चुकी है। प्राचीन समय में आदिवासियों को अनार्य कहकर उनको जंगलों में खदेड़ दिया गया और वर्तमान समय में उनको नक्सली कहकर सरकार की तरफ से साजिश करके उनका अस्तित्व ही खत्म किया जा रहा है। आदिवासियों का पूरा का पूरा गांव पुलिस की गोलियों व बमों से उड़ा दिया जाता है माओवादी या नक्सली करार देकर। यह है सरकार की तरफ से आदिवासियों के लिए विकास के मायने। आज के समय में पूरे भारत के आदिवसी क्षेत्रों में इसी विकास को आधार बनाकर आदिवासियों को जल, जंगल और जमीन से बेदखल किया जा रहा है।

आदिवासियों का क्षेत्र प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर है। लोहा, कोयला बाक्साइट, यूरेनियम आदि संसाधन वहां मैजूद हैं। **अरुंधती राय** लिखती हैं – ''झारखण्ड और उड़ीसा आदि की पहाड़ियों में जितनी बॉक्साइट भरी पड़ी है, उसकी कीमत आंकी जाय तो उसमें बारह शून्य आता है।...झारखण्ड में पिछले दिनों मधु कोड़ा की अवैध 4,500 करोड़ की सम्पत्ति का मामला काफी गरमाया था। झारखंड खनिजों का

भंडार है। वहां भी सरकार विकास कर रही है।...जो पैसे मधु कोडा एंड कंपनी ने कमाए, वे खनिज और कोयले से आए हैं। कंपनियों की जहां तक बात है, आर्सेलर, मित्तल-जिंदल से लेकर कौन है, जो झारखंड में मौजूद नहीं यानी, खनिज, आदिवासी, माओवादी, धन, विकास, जंगल, जमीन, निजी, पूंजी, आंतरिक सुरक्षा-ये सब तमाम शब्द दरअसल एक ही संदर्भ से ताल्लुक रखते हैं, जो एक ही किस्म के भौगेलिक क्षेत्रों पर लागू होते हैं।''[24]

आज विकास के नाम पर यही सब किया जा रहा है। आदिवासी नेता अपनी जेबें भर रहे हैं और कंपनियां करोड़ों का मुनाफा कमा रही हैं। इन दोनों के बीच यदि कोई पिसने को मजबूर है वह आदिवासी हैं। आज आदिवासियों के संदर्भ में जो नीतियां हैं वह कुछेक लोगों के हितों को केन्द्र में रखकर बनायी जा रही हैं। कोयला खदानों से लेकर अन्य प्राकृतिक संसाधनों के लिए सरकार जमीन का अधिग्रहण करती है। सरकार ने लम्बे समय से आदिवासी क्षेत्र की जमीन को गैरआदिवासियों को बेचे जाने पर रोक लगा रखी है। ऐसी स्थिति में आदिवासी अपनी जमीन को किसी दूसरे आदिवासी को ही बेचता है जिससे उसे बहुत कम रूपये प्राप्त होते हैं। सरकार ने यही रूपये मुआवजे के लिए निर्धारित किये हैं। इस प्रकार सरकार जब मुआवजा दे देती है तो उस रूपये से बाहर कहीं जमीन खरीद ही नहीं पाते हैं। मध्यप्रदेश के कोरवा क्षेत्र के आदिवासी लम्बे समय से इस मांग को लेकर संघर्षरत हैं कि प्रचलित बाजार मूल्य पर ही मुआवजा दिया जाए। औद्योगीकरण के नाम पर और कोयला की खानों, पनबिजली परियोजनाओं, बड़े-बड़े बांधों और कारखानों के नाम पर आदिवासियों के जमीन से बेदखल लोगों की एक फौज सी खड़ी हो गयी है। राष्ट्र के नाम पर आदिवासियों की जमीन सरकार कौड़ियों के भाव खरीद लेती है। विस्थापित आदिवासियों को मुआवजा दिये जाने की कोई समय-सीमा तो निर्धारित नहीं है साथ ही कुछ आदिवासियों को बहुत थोड़ा-सा मुआवजा दे दिया जाता है और कुछ को तो वह भी नहीं मिलता है। वह दर-दर भटकने के लिए मजबूर हैं। इसीलिए आदिवासी ऐसे विकास की नीतियों का विरोध करते हैं तो उन्हें विकास विरोधी होने का प्रोपेगेण्डा खड़ा कर दिया जा रहा है। सवाल यहां यह है कि क्या विकास सिर्फ एक पूरे के पूरे समाज की कीमत पर ही किया जाना चाहिए? क्या उनको इस समाज की चौहद्दी से निकाला जाना जरूरी है? आदिवासी समाज में विकास की सारी योजनाएं भ्रष्ट अधिकारियों और नेताओं की मिलीभगत से दम तोड़ चुकी हैं। सरकार की तरफ से यह तर्क दिया जा रहा है कि वह आदिवासियों को समाज की मुख्यधारा में लाने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसी योजनाओं को विकास के तर्क की तरह बताया जा रहा है। आदिवासी समाज का एक बहुत बड़ा तबका आज भी वही आदिम अवस्था में जीने को मजबूर है। विकास के नाम पर उनका विनाश किया जा रहा है, उनका जल, जमीन और जंगल उनसे छीनकर उनको विस्थापित किया जा रहा है।

आदिवासियों को अपने खिलाफ चल रहे साजिश को समझने में देर हो जाती है और विकास के नाम पर संभावित विस्थापन का विरोध उस सोपान पर आरंभ होता है जब सारे अन्तिम फैसला लिए जा चुके

होते हैं। इसकी वजह यह है कि इस तथाकथित विकास का माध्यम या लाभकारी पक्ष सरकारी या निजी परियोजना संबंधी नीति-निर्धारण की प्रक्रिया से आरंभ से जुड़ा होता है और जिन लोगों की कीमत पर यह सब कुछ होने जा रहा होता है, उन्हें अंत में पता लगता है कि उन्हें बेदखल करने का निर्णय सरकार ने राज्य केन्द्र और विश्व स्तर पर ले लिया है। उल्लेखनीय है कि ऐसे निर्णयों की प्रक्रिया बहुत लंबी होती है। और अगर तथाकथित मुख्यधारा से कन्हीं व्यक्तियों से संबंधित कोई मुद्दा होता तो पहले ही दस्तावेज की प्रति उन तक पहुँच जाती और वे लोग ऐसे मामले को अदालतों में उलझा देते और दशकों तक फैसला नहीं होने देते या अपने पक्ष में करवा लेते। मगर अपनी अलग-थलग दुनिया में रहते आए आदिवासियों को यह सब करना नहीं आता। उन्हें यह पता लगना कठिन होता है कि उनके विरूद्ध कौन और कहां षड्यंत्र रच रहा है। अन्तिम सोपान पर पहुंच कर विरोध करने के कारण आदिवासियों की आवाज दबा दी जाती है तथा उन्हें विस्थापन मुफ्त में दे दिया जाता है। वह लोग सड़क के किनारे झोपड़पट्टी में रहने को मजबूर हैं। आज के समय में आदिवासियों में विस्थापितों की संख्या बढ़ती जा रही है। उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है कि सिर्फ बांध परियोजना के चलते कितने आदिवासी बेघर हुए हैं जिसकी सारणी इस प्रकार है –

सारणी सं.-1 बाँध परियोजनायें और आदिवासी जन समुदाय का विस्थापन

परियोजना का नाम	राज्य	कुल विस्थापित जनसंख्या	विस्थापित आदिवासी जनों का प्रतिशत
करजन	गुजरात	11,600	100
सरदार सरोवर	गुजरात	200,000	57.6
महेश्वर	मध्य प्रदेश	20,000	60
बोधाघाट	मध्य प्रदेश	12,700	73.91
इचा	बिहार	30,800	80
चंदिल	बिहार	37,600	87.92
कोयल कारो	बिहार	66,000	88
माही बजाज सागर	राजस्थान	38,400	76.28
पोलावरम	आन्ध्र प्रदेश	150,000	52.90

मैथोन और पंचेट	बिहार	93,874	56.46
ऊपरी इंद्रावती	उड़ीसा	18,500	89.20
पोंग	हिमाचल प्रदेश	80,000	56.25
इंचपल्लम	आन्ध्रप्रदेश महाराष्ट्र	38,100	76.28
तुलतुल	महाराष्ट्र	13,600	51.61
दमन गंगा	गुजरात	8,700	48.70
भाकरा	हिमाचल प्रदेश	36,000	34.76
मसान रिसर्वायर	बिहार	3,700	31
उकई रिसर्वायर	गुजरात	52,000	18.92

स्रोत – सत्यजीत सिंह, 'टेमिग द वाटर्स', ओ.यू.पी. और सरकारी आँकड़े।

इस सारणी से स्पष्ट हो जाता है कि केवल बांध परियोजनाओं के कारण से इतने आदिवासी घर से बेघर कर दिये गये तो औद्योगिक खनन और कंपनियों के चलते कितने आदिवासी बेघर हुए होंगे।

यह सही है कि महाभारत काल या उससे पहले भी आर्यों ने इन्हें सभ्यता से बहिष्कृत कर जंगलों में ठेल दिया था, लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद दखलंदाजी का ढंग बदल गया। आजादी के बाद तो मामला और भी बिगड़ गया। पहले लोग उन पर अपना वर्चस्व जमाते जाते थे, किन्तु वे उनकी अंदर की व्यवस्था में दखलंदाजी नहीं करते थे। आजादी के पहले भारत के मैदानी इलाकों के सूदखोरों, जमीदारों या व्यापारियों की जमात ने उन्हें खूब निचोड़ा और जंगलों से बेदखल किया। इस बारे में **रमणिका गुप्ता** लिखती हैं – ''आदिवासी जमात जितनी बाहरी उपनिवेशवाद से प्रभावित हुई उससे भी ज्यादा वह आंतरिक उपनिवेशवाद एवं वर्चस्ववाद के कारण अपनी ही भूमि पर अल्संख्यक हुई या विस्थापितों की जमात बन गई।''[25]

यह बिल्कुल सही है कि आदिवासियों के पास जंगल और जमीन न हो तो उस आदिवासी की पहचान ही खत्म हो जाती है। अंग्रेजों ने यही किया और आजादी के बाद हमारी सरकार ने भी यही नीति जारी रखी। अंग्रेजों ने अपनी राजस्व की नीति में स्थायी बंदोबस्ती की व्यवस्था थोपकर जमीन के अधिकार जमींदारों के हाथों में दे दिया और आदिवासी, जो सामूहिक रूप से पूरे गांव के मालिक हुआ करते थे, उनके

रैयत-दर-रैयत बन गये। कालांतर में उनकी जमीन जमींदारों, सूदखोरों व गैर-आदिवासियों ने धोखे से हस्तांरित करा ली और वे भूमिहीन खेतीहीन खेतीहर मजदूर बनकर रह गए या फिर बंधुआ बन गए। पहले वह जंगल के राजा थे। अब वे लकड़ी चोर में बदल गए हैं और लकड़ी खरीदने वाले सब बहिरागत हैं, जो अब जंगल के राजा हैं। आदिवासियों को जमीनों और जंगलों पर खुदकट्टी अधिकार प्राप्त थे, यानी पेड़ काटकर वे खेती लायक जमीन तैयार कर सकते थे, अब जंगल कटने से सी.एन.टी. ऐक्ट, जिसमें आदिवासियों की जमीन के हस्तांतरण पर रोक का प्रावधान था, में संशोधन करके उनके जमीन का अधिकार ही खत्म किया जा रहा है।

आदिवासियों के लिए लाठा, छावन और जलावन की आपूर्ति हेतु जंगल में कूप सुरक्षित थे लेकिन अंग्रेजों ने जंगलों का वाणिज्यकरण कर दिया और भारत सरकार ने भी आजादी के बाद उसी नीति का अनुसरण किया, जिसके कारण भारी संख्या में जंगल काटने के लिए ठेकेदार नियुक्त कर दिये गए और जंगल कट गए। इसके चलते इनके रोजगार तो छीन ही लिए, इन्हें खेतों में सिंचाई के लिए लाठा (खूंटा), घर छाने के लिए छावन और चूल्हा जलाने के लिए जलावन की लकड़ी के भी लाले पड़ गए। इनका जीवन का गुजर-बसर जंगल की उपज पर होता था। सखुआ के फूलों पर ये अकाल और सुखाड़ का मुकाबला कर लेते थे, लेकिन आज आर्थिक लाभ के कारण सखुआ की जगह यूकेलिप्टिस और सागवान लगाया जा रहा है। इस नीति के विरोध में अस्सी के दशक में संताल परगना ने विद्रोह का बिगुल बजाया था। महुआ के फूल और उसके बीजों के तेल, पलाश के फूलों से रंग और उसकी छाल से बनी गोंद, कुसुम के फूलों का तेल, जड़ी-बूटियों से चिकित्सा करने का रोजगार, लकड़ी से उपस्कर, पत्तों से पत्तल तथा बीड़ी और झाड़ों की टहनियों के दतवन बनाकर बेचने से उनका जीवनयापन होता था। लेकिन आज जंगल कटने से, बांध बनने से, कोयला खनन की ओपन-काष्ट शैली अपनाने से सब खत्म तो हुआ ही साथ में ही सरकार द्वारा सन् 1979 सीमा निर्धारण व अन्य कानून बनाकर आदिवासियों के जंगल में प्रवेश पर रोक लगा दी गई, जिसके कारण उन्हें पलायन करने पर मजबूर होना पड़ा।

इस प्रकार से आदिवासियों के रोजगार खत्म होते चले गए। आदिवासी सस्ते मजदूरों की जमात बन गए और इसका फायदा बाहर के लोगों ने उठाया और इनके कंधों पर दासता का बोझ डाल दिया। इस प्रकार पूंजीपतियों के विकास व वन दमन के लिए आदिवासियों के विशाल जनसमूह को निस्सहाय बना दिया गया। उन्हें इस हालत में रखने की साजिश रची गई ताकि वे पूंजीपतियों के लिए सस्ते मजदूर बनकर उनके हित-साधन की दमनकारी मशीन का एक पुर्जा बन जाएं। ये विकास किसके लिए हुआ, आदिवासी यह नहीं जानता। वह बस यह जानता है कि कि इस विकास के कारण उसका विनाश हुआ है। इस विषय में **रमणिका गुप्ता** लिखती हैं – ''आदिवासियों के विस्थापन से उसे अपना प्रदेश छोड़कर बाहर जाना पड़ा जिससे उसकी भाषा और संस्कृति नष्टप्राय हो गई। लेकिन जो लोग देश में भी रह गए, वे बहिरागत लोगों के आने के कारण अपने ही क्षेत्र में अल्पसंख्यक हो गए। जैसा कि झारखंड या छत्तीसगढ़ में हुआ।''[26]

भूमि के स्थाई बंदोबस्ती और बहिरागतों के चलते आदिवासी समाज में एक और समस्या खड़ी हो गई। पहले आदिवासी समाज समतामूलक समाज था लेकिन अब समतामूलक समाज की अवधारणा झारखंड जैसे अन्य राज्यों में मिथ बन गई है। इसके संबंध में **रणेन्द्र** लिखते हैं – ''श्रम की महत्ता और समानता आदिवासी समाज की विशेषता थी, लेकिन समतामूलक आदिवासी समाज की अवधारणा आज एक मिथ मात्र बन कर रह गई है। यह वर्गविहीन साम्य उस काल में सच्चाई थी जब संसार के सभी आदिवासी क्षेत्रों की तरह झारखंड़ी अर्थव्यवस्था सामुदायिकता पर आधारित थी। हवा की तरह जमीन, जंगल और जल व्यक्तिगत संपत्ति नहीं, बल्कि सामुदायिक संसाधन थे।''[27] लेकिन राजा दुर्जन साल के समय से स्थिति बदलने लगी। ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता द्वारा स्थाई बंदोवस्ती (1793) की राजस्व व्यवस्था लागू होते ही स्थिति बिल्कुल बदल गई। भूमि न केवल व्यक्तिगत संपत्ति में तब्दील हो गई, बल्कि उसे खरीदा-बेचा- रेहन रखा जाने लगा। यह स्थिति आदिवासी समाज में निहित सामुदायिकता के लिए बहुत आघातकारी साबित हुआ, फलस्वरूप प्रतिकार-विद्रोह, क्रांति-उलगुलानों का सिलसिला शुरू हो गया। जिसके चलते साम्राज्यवादी प्रशासन ने परंपरा में अपना सम्मान व्यक्त करते हुए उस समय प्रचलित प्रथाओं को मान्यता दे दी। इसके बावजूद व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा हावी होती चली गई। आदिवासी समाज के पुरुषों को लगा कि चूँकि रिकार्ड में उनका नाम दर्ज है इसलिए मालिक वही है। ऐक्ट में किए गए संशोधनों ने भूमि हस्तांतरण के वैध-अवैध तरीके ईजाद किए। सामुदायिकता लुप्त होती चली गई। वर्ग-विहीन समाज वर्गों में बंटता चला गया। इस तरह से ऐसी कारीगर जातियाँ जिन्होंने ग्राम-समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति को अपना व्यवसाय बना रखा था, जंगल-जमीन पर से सामुदायिक हक समाप्त होने की प्रक्रिया के चलते निम्नतर आर्थिक हैसियत में आने लगीं। कृषि से जुड़े समुदाय, जिनके नाम से भूमि के खतियान बने थे, जिनके कब्जे में कृषि योग्य भूमि थी, धीरे-धीरे तुलनात्मक रूप से बेहतर स्थिति में आ गए। तीसरी श्रेणी में ऐसी आदिम जनजातियाँ हैं, जिन्होंने भ्रमणशील जीवन शैली अपना रखी थी, कृषि को पेशा बनाने में पिछड़ गयीं, भोजन संग्रहण और शिकार ही पेशा बना रहा, फलस्वरूप वे सबसे निम्नतम स्थिति में पहुँच गईं। इस तरह से समतामूलक समाज कई वर्गों में बंट गया।

भूमण्डलीकरण ने विकास के नाम पर विस्थापन के रूप को और दर्दनाक बना दिया है। जब एक राष्ट्र राज्य का ग्लोबल गांव के देवताओं से गठजोड़ होता है तो वह जितने ज्यादा लालची होते हैं उससे कई गुना ज्यादा खतरनाक भी। उनके लालच को बढ़ाने में उनकी मदद करता है विज्ञान। वे लोग जब सैटेलाइट की आंखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड, आन्ध्र प्रदेश, नागालैण्ड आदि राज्यों की खनिज संपदा और अन्य संसाधनों को देखते हैं तो उन्हें लगता है इन सब चीजों पर तो हमारा अधिकार होना चाहिए। इस प्रक्रिया के चलते ही आदिवासियों का अन्त होने लगता है। इस दौर में खुले खदानों का प्रचलन तथा अवैध खनन और बढ़ जाता है। इसके साथ ही टाटा, वेदांग जैसी कंपनियों के चलते विस्थापन तो बढ़ा ही साथ में आदिवासियों की परम्परागत आजीविका के साधनों पर भी गहरा प्रहार किया है जिसके कारण उनके द्वारा

बनाए गए सामानों की पूछ अब बाजार में नहीं रही। ऐसी स्थिति में महिलाओं और बच्चों का जीना दूभर हो गया है। इन कंपनियों ने आदिवासियों को मजूरी तो दी लेकिन दूसरी तरफ बर्बादी के सरंजाम भी छोड़े हैं, जिसके कारण बरसात में इन गड्ढ़ों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया उनके यहां की महामारी है। इस बीमारी के बारे में **रणेन्द्र** अपने एक लेख **'आदिवासी : मिथ और यथार्थ'** में लिखते हैं – ''यहाँ के लोग मलेरिया के साथ ही बढ़ते हैं और इसी के साथ मरते भी हैं। इसका प्रमाण यहाँ के बच्चों एवं बड़ों में बढ़ी हुई प्लीहा (स्प्लीन) है जो बार-बार मलेरिया से ग्रसित होने कारण इतनी बढ़ जाती है कि इसे एक अलग बीमारी के तौर पर (जिसे 'ट्रोपिकल स्प्लीनोमेगेली सिंड्रोम कहते हैं) लिया जाने लगा है।''[28] जबकि प्रावधान यह है कि कंपनियों को खनन के बाद गड्ढों को भरना होता है और लाभ का एक बड़ा हिस्सा अंचल के विकास कार्यों पर खर्च करना होता है लेकिन न ही तो गड्ढे भरे जाते हैं और न ही अंचल के विकास के कार्यों के लिए पैसे ही खर्च किये जाते हैं। यही कारण है कि भूमण्डलीकरण के दौर में आदिवासियों के बीच सही मायने में शान्ति के नाम पर अशान्ति का प्रसार हुआ है और स्वतंत्रता के नाम पर भीषण दमन हुआ है।

आदिवासी क्षेत्र में शोषक के हाथ अब केवल उनके जल, जमीन और जंगल तक ही सीमित नहीं रहे हैं बल्कि उनके हाथ अब उनके घर की इज्जत (बहू, बेटियां, मां) तक पहुँच गए हैं। 'दिकू' अपनी 'उपभोक्तावादी संस्कृति' का प्रलोभन देकर भोली-भाली आदिवासी लड़कियों व स्त्रियों को अपने जाल में फाँस लेते हैं। वर्तमान समय में देखें तो आदिवासियों के हाथों से जल, जमीन, जंगल के साथ-साथ उनकी बेटियां भी निकली जा रही हैं। आये दिन उनके अखड़ा (पंचायत) में यही चर्चा होती रहती है कि फलां-फलां की बेटी बाहर निकल गई है या फिर है तो अपने ही क्षेत्र में लेकिन मुंशी, दलाल के डेरे पर ही रहती हैं, अपने घर नहीं आती। गरीबी, बीमारी की मार तथा परिवार की माली हालत के कारण आदिवासियों की सयानी बेटियों को सम्पन्न, जमींदारों, नौकरशाहों, खदान के मालिकों और प्रभावशाली कारिन्दों की रखैलों के रूप में रहते हुए उनके घरेलू काम करने पड़ते हैं। साथ में ही कच्ची उम्र की लड़कियों को दिल्ली, कलकत्ता आदि का सपना दिखाकर उनका चालान भी किया जाता है, जहां पहुँच कर वह न जाने कैस-कैसे अन्याय व शोषण सहती हैं। कथित मुख्यधारा के जमींदारों, नौकरशाहों खदान मालिकों और प्रशासनिक पदाधिकारी आदि भोली-भाली आदिवासी स्त्री को बहला-फुसलाकर उनसे उन्ही के समाज के रस्मो-रिवाज से शादी का ढोंग रचाते हैं। वह न उससे कोर्ट में शादी करते हैं और न ही अपनी शादी को वैधानिक रूप देने के लिए रजिस्ट्रेशन ही कराते हैं ताकि बाद में उन्हें कोई जिम्मेदारी न लेना पड़े। आदिवासी स्त्री बड़ी आसानी से इस षडयंत्र में फँस जाती हैं। ये लोग आदिवासी स्त्री से शादी करने के कुछ दिनों के बाद उसे अकेला छोड़कर चले जाते है। आदिवासी स्त्री अपने बच्चे का हिस्सा जब उस आदमी से सम्पत्ति में माँगती है तो वह कोर्ट से आर्डर ले आता है। जब विवाह ही वैध नहीं तो सम्पत्ति में हिस्सा कैसा? परिणामत: वह उसके बच्चे का बोझ ढोने को अभिशप्त है। वह उस बच्चे के पालन-पोषण के लिए दर-दर भटकती रहती है और अपने समाज से कटती

चली जाती है। इस तरह से आदिवासियों के हाथों से बेटियां और जमीन दोनों निकलती जाती हैं जो उनकी सबसे बड़ी चिन्ता का विषय बनी हुई हैं।

दूसरी तरफ आदिवासी समाज में पहले के दिनों में ग्राम सभा की बैठकों में जिस स्त्री की उपस्थिति एवं उसके द्वारा दिये गये निर्णय मान्य होते थे। अब उन्ही स्त्रियों को औपनिवेशिक सत्ता के प्रभाव से स्थापित जमींदारी-सामंती प्रथा के तत्वों के कुप्रभावों के चलते ग्राम सभा से अनुपस्थित कर दिया गया। आज आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुष समानता भी एक मिथ बन कर रह गई है। खासकर झारखंड के आदिवासी समाज में ऐसा ही है। बहिरागत लोगों की 'उपभोक्तावादी संस्कृति' के प्रलोभनों ने स्त्री-पुरुष के संबंध को भी प्रभावित किया है। बाहर व खुले में रहने वाली आदिवासी स्त्री का कार्य-क्षेत्र अब घर आंगन तक ही सीमित हो गया है। साथ ही बहुत सारी सामाजिक-आर्थिक गतिविधियों से स्त्रियों को वंचित कर दिया गया है। जैसे – हल चलाना, खेत को समतल करना, तीर-धनुष चलाना आदि। हालांकि ये भी सच है कि आज भी कथित मुख्यधारा के समाज में आम स्त्री की जो हैसियत है, उससे कहीं बेहतर स्थिति में आदिवासी स्त्री है। वह अपने व्यवहार में अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र दिखती है, जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में पुरुषों के साथ उनकी सहभागिता दिखाई पड़ती है। ये स्त्रियाँ श्रमशक्ति और उपादेयता के कारण परिवार में निर्णयात्मक स्थान ग्रहण की हुई हैं, फिर भी उन्हें समाज में पुरुष की तुलना में दोयम दर्जा ही हासिल है। वह जब तक कुंवारी है तब तक अपने पिता-भाई की, विवाहोपरान्त पति और वृद्धावस्था में पुत्र की जिम्मेवारी मानी जाती है। उसने अगर किसी सामाजिक नियम का उल्लंघन किया है तो ग्राम के 'पंच' उसकी अवस्थानुसार उस पर जुर्माना लगाते हैं और उम्मीद करते हैं कि उसके पति, पिता-भाई या पुत्र उसे चुकाएंगे। आदिवासी क्षेत्र में नई आबादी के आरोपण एवं औद्योगिक विकास का लाभ कुछ लोगों में सिमट गया। जिसके कारण आदिवासी समाज में सम्पन्न-विपन्न होने के भेद कई खाइयाँ खड़ी कर दीं हैं।

आदिवासी समाज का शोषण केवल राज्य के द्वारा ही नहीं किया गया है अपितु उनका शोषण ईसाई मिशनरियों ने भी खूब किया है। इस बात को **वेरियर** बहुत जोरदार तरीके से कहती हैं – ''...मिशनरी उनकी कला, उनके नृत्य, उनके परिधान और उनकी पूरी संस्कृति को नष्ट कर रहे हैं।''[29] आजादी के बाद इस शोषण में आर.एस.एस. के लोग भी शामिल हो गए हैं। वह भी इन आदिवासी इलाकों में अपने स्कूल चलाने लगे और उनको मामूली सहूलियतें देने लगे। इस बात को बार-बार इन लोगों ने प्रचारित किया कि आदिवासी हमेशा से हिन्दू धर्म को ही मानते रहे हैं। जबकि वास्तविकता एकदम अलग है। ''जनगणना के आँकड़ों से पता चलता है, आदिवासी की अपनी धार्मिक पहचान नहीं के बराबर है।''[30] आदिवासी समाज ने पेड़-पौधों की पूजा की है और उन्हीं के बीच जीवन बिताया है। निर्विवाद रूप से आदिवासियों का सहिष्णुता पर आधारित एक विशिष्ट प्रकृतिवादी धर्म-दर्शन है, जिसे आदिधर्म (सरना), एनिमिज्म, एनिमिस्टि रिलीजन, प्रिमिटिविज्म, प्रिमिटिव रिलीजन, आदिवासी धर्म, जनजाति धर्म, सरनाइज्म, सरना धर्म, बोंगाइज्म इत्यादि

नामों से विहित किया गया है। विडम्बना यह है कि भारतीय संविधान में आदिवासियों की कोई स्वतंत्र धार्मिक पहचान नहीं मानी गई है। इसके बारे में **रणेन्द्र** अपने एक लेख **'आदिवासी : मिथ और यथार्थ'** में लिखते हैं – ''भारतीय संविधान में आदिवासियों को सांस्कृतिक रूप से एक विशिष्ट समुदाय माना गया है, किंतु उनकी स्वतंत्र धार्मिक पहचान नहीं है। राष्ट्रीय स्तर पर प्रति दस वर्षों में होने वाली जनगणना में उनकी धार्मिक पहचान दर्ज करने के लिए मात्र 'अन्य' का विकल्प है, इसके परिणामस्वरूप जो आदिवासी स्पष्ट रूप से अपने को ईसाई, मुसलमान या बौद्ध नहीं बताते, वे हिंदू के अन्तर्गत ही चिह्नित होने को विवश हैं।''[31] इसके परिणामस्वरूप आदिवासी समाज अनंत काल के लिए अपने गुलामी व शोषण की तरफ बढ़ता जा रहा है।

आजादी के बाद ईसाई मिशनरियों ने धार्मिक आधार पर उनका खूब शोषण किया। ईसाई मिशनरियों ने मामूली सहूलियतों के नाम पर आदिवासियों को इसाई बना दिया। ईसाई मिशनरियों ने आदिवासी इलाकों में स्कूल, अस्पताल खोले। इन सबसे आदिवासियों को काफी फायदा भी पहुँचा लेकिन इनसे जो नुकसान हुआ उसकी भरपाई नहीं की जा सकी। इसी प्रतिक्रिया में संघ ने भी आदिवासी इलाकों में अपने स्कूल खोले और धर्मान्तरण पर खूब जोर दिया। लिहाजा आदिवासी कभी ईसाई बने तो तो कभी ईसाई समाज से उनकी घर वापसी कराई गई। धर्मान्तरण की यह प्रक्रिया इतनी तेजी से चली कि यह पूरा समाज इस षडयन्त्र में फंस गया। धर्मान्तरण होने के बाद व्यक्ति का न केवल नाम बदल दिया जाता था अपितु उसको एक नया नाम दिया जाता था। जिससे वह व्यक्ति अपनी पुरानी पहचान को मिटाता और नई पहचान के बीच जीने को मजबूर हो जाता था। धर्मान्तरण के पीछे आदिवासी समाज का खूब शोषण किया जाता था। ईसाई पादरियों और संघ ने आदिवासी समाज की औरतों का खूब शोषण किया। इसके अलावा हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म का भी आदिवासी क्षेत्र में प्रभाव देखा जा सकता है। भौगोलिक सीमा क्षेत्र के आधार पर देखें तो कहा जा सकता है कि पश्चिम, दक्षिण एवं मध्य भारत में अधिकांश जनजातियों ने हिन्दू धर्म को अपना लिया है तो उत्तर-पूर्वी भारत की अधिकांश जनजातियां इसाई धर्म को। मध्य भारत के अधिकांश आदिवासियों ने ईसाई धर्म के अनुयायी हो चुके हैं। दक्षिण भारत की जनजातियां ईसाई धर्म को तो कुछ मुस्लिम धर्म को मानने लगी हैं। इसके अलावा बौद्ध, जैन धर्म को मानने वाली जनजातियां नगण्य हैं। इससे स्पष्ट है कि आदिवासियों के नाम पर किस तरह की राजनीति हो रही है, उनका धर्मान्तरण के नाम पर किस तरह से शोषण किया जा रहा है। इस शोषण के द्वारा ही उनका मानसिक व दैहिक शोषण आदि किया जा रहा है।

इस तरह आदिवासी समाज चारों तरफ समस्याओं से घिरा हुआ है। आदिवासी समाज में व्याप्त समस्याओं का जब गहराई से अध्ययन करते हैं तो हमारे समाने दो तरह की बातें आती हैं। पहली यह कि आदिवासियों के भौगोलिक क्षेत्र के स्तर पर उनकी समस्याओं में भिन्नता है। दूसरी यह कि इसके बरअक्स

जब हम उनके वृहत स्तर पर समस्याओं को देखने की कोशिश करते हैं तो कुछ ऐसी भी समस्याएं सामने आती हैं जो प्रत्येक राज्य में रहने वाले आदिवासियों के समाज में पायी जाती हैं। जैसे – समाज में शिक्षा के अभाव की समस्या, अशिक्षा के चलते उनके समाज में व्याप्त अंधविश्वास की समस्या, उनके समाज की स्त्रियों के दैहिक शोषण की समस्या, धर्मांतरण की समस्या और विस्थापन की समस्याओं जैसी तमाम अन्य समस्याएं भी।

निष्कर्षत: हम देख सकते हैं कि पूरे भारत के आदिवासियों के जीवन के विविध आयामों और उनके जीवन की समस्याओं में क्षेत्रीयता के आधार पर अन्तर भी है और वृहत स्तर पर समानता भी। आदिवासी अनेक समुदायों में बंटे हुए हैं जिसके कारण इनके उत्पत्ति के ऐतिहासिक कारण भी भिन्न हैं फिर भी इनके जीवन-यापन में कुछ हद तक समानता दिखाई देती है। चाहे वह असम, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, अबूझमाड़, गुजरात, मध्य प्रदेश, राजस्थान, के आदिवासी हों, या फिर चाहे अरूणाचल प्रदेश, मिजोरम, लक्ष्यद्वीप, अण्डमान-निकोबार के आदिवासी हों। इनका रहन-सहन प्रकृति के बीच में ही है, क्योंकि ये प्रकृति प्रेमी भी होते हैं ये प्रकृति का दोहन नहीं करते, उसका नुकसान नहीं करते बल्कि उसके महत्व को समझते हुए उसका दोहन करने वालों के खिलाफ बिगुल फूंक कर उसकी रक्षा भी करते हैं। आदिवासी समाज में पूर्वजों को पूजा जाता है, इनकी आर्थिक व्यवस्था मूलरूप से जंगलों पर आधारित है, अशिक्षा और अंधविश्वास पूरे भारत के आदिवासियों में पाया जाता है। इनका जीवन दर्शन लगभग एक जैसा है। इन सबके जीविका का मुख्य आधार जंगल ही थे लेकिन अब सूदखोर, महाजन, पूँजीपतियों के चलते इन्हें मजदूरी करके अपना जीवन-यापन करना पड़ रहा है। अब अपनी क्षेत्रीयता के आधार पर ये अपने जीवन-यापन के साधनों को अपनाकर जीविका चलाने लगे हैं। दूसरी तरफ आदिवासियों की समस्याओं को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इनकी कुछ क्षेत्रीय समस्याओं को छोड़कर सारी समस्याएं एक जैसी हैं। क्षेत्रीय समस्याओं के अन्तर्गत लक्ष्यद्वीप के आदिवासियों की जो समस्या होगी वही समस्या झारखण्ड के आदिवासियों की नहीं होंगी। लेकिन जब वृहत स्तर पर पूरे भारत के आदिवासियों की समस्याओं का आकलन करेंगे तो बहुत कुछ कॉमन समस्याएं दिखेंगी। जैसे – अस्मिता और अस्तित्व की समस्या, भाषा, लिपि, शिक्षा के अभाव की समस्या, मुख्यधारा में शामिल होने की समस्या, भुखमरी, गरीबी, बीमारी की समस्या, स्त्रियों के शोषण की समस्या, बड़े-बड़े सूदखोर, महाजन, पूँजीपतियों के द्वारा चलाये गये शोषण के चक्र की समस्या, धर्मान्तरण की समस्या, इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विस्थापन की समस्या और उनके पुनर्वास की समस्या आदि। आदिवासी समझ गये हैं कि विकास के नाम पर उनका विनाश किया जा रहा है। यही सब सोचकर जब वह ऐसी नीतियों का विरोध करता है तो उसे अपना विकास न होने देने का प्रोपेगेण्डा रच दिया जाता है, कह दिया जाता है कि वह अपना विकास चाहते ही नहीं। जबकि सच्चाई यह है कि बड़े-बड़े पूँजीपतियों के मुनाफे के लिए उनसे उनका जल, जमीन और जंगल को छीन लिया जाता है, उन्हें विस्थापित कर दिया जाता है। कंपनियों को स्थापित करने के लिए उनके जंगल को काटा जा रहा है और उनकी बेटियों को बेचा जा रहा

है। चारों तरफ से वह शोषण के चक्रव्यूह में फंसे हुए हैं और सरकार इनकी समस्याओं की तरफ कोई ध्यान नही दे रही है। क्या करें? कहां जाएं ये लोग? भारत के इन प्रकृति के बेटों की कठिनतम समस्याओं को देखकर स्पष्ट है कि ये लोग बहुत परिश्रम करके अपना जीवन-यापन करते हैं।

संदर्भ-सूची

1. सारणी 1.7, भारत के आदिवासी जन समुदाय की जन सांख्यिकीय स्थिति, जनगणना – 2011, पृष्ठ संख्या – 8
2. सं. – *गंगा सहाय मीणा* – आदिवासी साहित्य विमर्श, पृ. सं. -157
3. *डॉ. बिमला चरण शर्मा और कीर्ति बिक्रम* - झारखंड की जनजातियां, पृ. सं. – 3
4. वही, पृष्ठ संख्या – 4
5. वही, पृष्ठ संख्या – 9
6. वही, पृष्ठ संख्या – 71
7. वही, पृष्ठ संख्या – 88
8. *डॉ.ए.आर.एन. श्रीवास्तव* – जनजातीय संस्कृति, पृ. सं. – 115
9. *डॉ. बिमला चरण शर्मा और कीर्ति बिक्रम* - झारखंड की जनजातियां, पृ. सं. –155
10. वही, पृष्ठ संख्या – 156
11. वही, पृष्ठ संख्या – 243
12. *डॉ.ए.आर.एन. श्रीवास्तव* – जनजातीय संस्कृति, पृ. सं. – 103
13. *डॉ. बिमला चरण शर्मा और कीर्ति बिक्रम* - झारखंड की जनजातियां, पृ. सं. – 392
14. वही, पृष्ठ संख्या – 378
15. *पी. आर. नायडू* - भारत के आदिवासी विकास की समस्याएं, पृ. सं. – 8
16. वही, पृष्ठ संख्या – 106
17. वही, पृष्ठ संख्या – 107
18. *वीर भारत तलवार* - झारखंड के आदिवासियों के बीच, पृ. सं.– 177
19. सं. - *दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे* - हाशिए का वृत्तांत, पृ. सं. – 359
20. *पी. आर. नायडू* - भारत के आदिवासी विकास की समस्याएं, पृ. सं. – 106
21. स्पीचेज, जिल्द 2, जवाहरलाल नेहरू, पृष्ठ संख्या – 582, कोटेड हाशिए की वैचारिकी – सं. – *उमाशंकर चौधरी*, बिपिन चन्द्र लेख 'राष्ट्र के रूप में भारत का गठन' पृ. सं. – 200
22. *सुन्दर लाल बहुगुणा* - 'सभ्यता का संकट और संस्कृति का संदेश : पर्यावरण के संदर्भ में', भारतीय जन-जीवन चिंतन के दर्पण में (डॉ. राजेन्द्र प्रसाद स्मारक व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिए गए व्याख्यानों का संग्रह), भाग-दो, पृ. सं. – 109
23. सं.-*शैलेन्द्र सागर* - कथाक्रम (पत्रिका) आदिवासी समाज और साहित्य विशेषांक, अक्टूबर-दिसम्बर 2012, पृ. सं. – 10
24. वही, पृ. सं. – 92
25. सं. - *दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे* - हाशिए का वृत्तांत, पृ. सं. – 355
26. वही, पृष्ठ संख्या – 357
27. सं. – *अविनाश कुमार सिंह* – इस्पातिका (पत्रिका), जनवरी-जून 2012, पृ.सं.-89
28. वही, पृ.सं. – 88

29. 'ए फिलोसॉफी फॉर नेफा' शिलांग, 1959, पृष्ठ संख्या – 46, कोटेड हाशिए की वैचारिकी – सं. – उमाशंकर चौधरी, बिपिन चन्द्र लेख 'राष्ट्र के रूप में भारत का गठन', पृ. सं. – 200
30. सं.-*शैलेन्द्र सागर* - कथाक्रम (पत्रिका) आदिवासी समाज और साहित्य विशेषांक, अक्टूबर-दिसम्बर 2012, पृ. सं. – 92
31. सं. – *अविनाश कुमार सिंह* – इस्पातिका (पत्रिका), जनवरी-जून 2012, पृ.सं.-92

तृतीय अध्याय

रणेन्द्र के साहित्य में आदिवासी जीवन का यथार्थ एवं समस्याएं

(1) उपन्यास

(2) कहानियां

(3) कविताएं

रणेन्द्र के साहित्य में प्रतिबिम्बित आदिवासी जीवन का यथार्थ एवं समस्याओं को अभिव्यक्त करने से पहले हमें यथार्थ क्या है इसे समझना होगा। जीवन क्या है? कला क्या है? इन दोनों का संबंध क्या है? इन प्रश्नों से जुड़ी समस्याओं पर विचार करने के क्रम में कला-आलोचना में यथार्थवाद की अवधारणा सामने आयी। यथार्थवाद एक व्यापक क्षेत्रीय विरोधाभाषी विचारधारा है। इसका संबंध अनेक विधाओं से है। साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवाद मानव-जीवन के उस रूप के चित्रण पर बल देता है जो वास्तिवक सत्ता से युक्त हो। व्यावहारिक दृष्टिकोण से साहित्य में मानव-जीवन और मानव-समाज का समग्र रूपात्मक चित्रण प्रस्तुत किया जाता है। एक यथार्थवादी साहित्यकार मानव-जीवन और मानव-समाज के आदर्शपरक और कल्पित स्वरूप की उपेक्षा करके अपनी रचनाओं में केवल यथार्थ चित्रण पर ही बल देता है, भले ही वह यथार्थ कुरूप और हीन हो तथा पाठक के हृदय पर उसको पढ़कर कोई सद्भावना न जाग्रत हो। इस दृष्टि से यथार्थवादी साहित्य किसी सीमा तक भौतिकवादी साहित्य कहा जा सकता है, क्योंकि वह मानव-जीवन और मानव-समाज की भावनात्मक और कल्पनात्मक सत्ता से पृथक उसकी वास्तविक सत्ता का बोध कराता है। एक साहित्यकार के अलावा एक चित्रकार अथवा विचारक भी यथार्थवादी दृष्टिकोण का अनुगामी हो सकाता है परन्तु उसके यथार्थ चित्रण का क्षेत्र भिन्न हो जाता है। साहित्य में जिस यथार्थवाद का चित्रण किया जाता है वह मुख्य रूप से वस्तु जगत् और भाव जगत् का पूरी ईमानदारी के साथ यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। इस दृष्टिकोण से साहित्य के क्षेत्र में जो प्रमुख विचारधाराएं हैं उनमें यथार्थवाद भी एक है। यथार्थवादी साहित्य आदर्शवादी साहित्य की भांति केवल कल्पना और आदर्श पर ही आधारित नहीं होता वरन् वास्तविक जगत् को उसकी सम्पूर्णता के साथ चित्रित करता है।

हिन्दी साहित्य की विभिन्न गद्यात्मक और पद्यात्मक विधाओं के क्षेत्र में यथार्थवाद का आंशिक रूप में समावेश पूर्व भारतेन्दु युग से ही दृष्टिगत होता है, परन्तु एक विशिष्ट विचारधारा के रूप में इसे प्रेमचन्दयुगीन साहित्य में ही प्रश्रय दिया गया। हिन्दी कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी तथा कविता आदि के क्षेत्रों में यथार्थवाद का समावेश और विकास इन साहित्यिक माध्यमों के विकास के समानांतर ही हुआ है। जहां तक हिन्दी कहानी का संबंध है, उसमें यह विचारधारा बहुत सुनियोजित रूप में उपलब्ध होती है। पूर्व भारतेन्दु युग तथा भारतेन्दु युग की कहानी में जहाँ यथार्थ का पुट यत्र-तत्र अंशत: ही उपलब्ध होता था, वहां प्रेमचन्द युग की कहानी में उसका स्पष्ट स्वरूप दिखाई देता है। प्रेमचन्दोत्तर तथा स्वातंत्रयोत्तर युग की कहानी में उसकी प्रखर चेतना दिखाई पड़ती है। नई कहानी में भी यथार्थवाद के विभिन्न रूपों का समावेश कहानी के विविध उपकरणों के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है। यहां पर इस तथ्य की तरफ संकेत करना अप्रसांगिक न होगा कि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यथार्थवादी विचारधारा क्रमश: स्पष्ट और विस्तृत होती हुई विकसित हुई है न कि यूरोप की भांति एक विचारान्दोलन के रूप में। हालांकि ये सही है कि पाश्चात्य सभ्यता और साहित्य के प्रभाव के बढ़ने के साथ हिन्दी के साहित्यकारों ने यूरोपीय भाषाओं में सुविकसित यथार्थवादी आन्दोलन

से प्रेरणा और प्रभाव भी ग्रहण किया है। इसके साथ ही हम यहाँ पर यथार्थवाद के संबंध में पाश्चात्य और भारतीय धारणाओं की चर्चा करेंगे।

पाश्चात्य धारणाओं में यथार्थवाद की अनेक विचारकों के द्वारा परिभाषाएं दी गई हैं। साहित्य की एक विशिष्ट विचारधारा के रूप में यथार्थवाद जीवन के यथार्थ चित्रण पर बल देता है। यथार्थवाद की परिभाषा करते हुए विभिन्न आलोचकों ने इसके विभिन्न पक्षों की व्याख्या की है। प्रसिद्ध यूरोपीय साहित्यिक इतिहासकार कजामियाँ ने यथार्थ के विषय में अपने इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया है कि यथार्थवाद साहित्य में कोई विशिष्ट शैली नहीं है, वरन् एक विचारधारा अथवा प्रवृत्ति है। यहाँ पर कजामियाँ के इस मन्तव्य के सन्दर्भ में इस तथ्य का उल्लेख करना अप्रासांगिक न होगा कि योरोप में जोला तथा मोपसां जैसे कथाकारों ने भी यथार्थवादी आन्दोलन के विकास में जो योगदान दिया है वह उसकी इसी प्रवृत्तिगत विशिष्टता के कारण है। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन जैसे विचारकों का यह मत है कि यथार्थवाद साहित्य में अभिव्यंजित यथार्थ से विशेष संबंध नहीं रखता, वरन् वह केवल उसकी शैली से सम्बद्ध होता है। जार्ज ल्यूकस जैसे विद्वानों ने यूरोपीय साहित्य में यथार्थवाद का अध्ययन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि वास्तविक अर्थ में यथार्थवादी साहित्य वही होगा, जिसमें का वर्ण्य विषय यथातथ्य चित्रित है। यथार्थवाद के अन्य पाश्चात्य व्यख्याताओं में हावर्ड फास्ट का उल्लेख करना भी आवश्यक है। उन्होंने यथार्थ चित्रण की समस्या पर विचार करते हुए यह कहा है कि साहित्य की आभ्यंतरिक प्रक्रिया किसी पूर्व निर्धारित क्रम पर निर्भर नहीं करती और न ही वह उससे निर्दिष्ट होती है। इसके विपरीत वह केवल संयोग पर आधारित होती है और इस दृष्टि से एक साहित्यकार का उद्देश्य यथार्थ का यथातथ्य चित्रण करना नहीं होता बल्कि यथार्थ के उपयुक्त रूप का चयन करना होता है। यही नहीं, वे इस बात पर भी बल देते हैं कि यथार्थ का स्वरूप एकात्मक होता है न कि द्वयात्मक। इसीलिए यथार्थपरक साहित्यकार के समक्ष कोई धर्म संकट नहीं होता और वह सरलतापूर्वक उसके चित्रण में प्रवृत्त हो सकता है। प्रसिद्ध अंग्रेजी कथाकार और आलोचक हेनरी जेम्स ने कथात्मक विधाओं में यथार्थ चित्रण पर विशेष बल दिया है। आधुनिक पाश्चात्य साहित्य में यथार्थवादी विचारधारा के विकास में कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों का योगदान भूला नहीं जा सकता क्योंकि यथार्थवाद और मार्क्सवाद में बहुत हद तक साम्य दिखाई देता है। मार्क्सवाद के अनुरूप किसी लेखक का मानसिक जगत् उसके सामाजिक जीवन का ही फल होता है और वही साहित्य में भाव अनुभूतियों के रूप में वर्ण, छंद और भाषा के माध्यम से अभिव्यंजित होता है। इस दृष्टिकोण से एक साहित्कार अपने मानसिक जगत् को ही भाषाबद्ध करता है जो उस मानव-समाज का प्रतिबिम्ब होता है।

दूसरी तरफ भारतीय धारणाएं यथार्थवाद के संबंध में कुछ इस प्रकार से हैं – यथार्थवाद क्या है? इस संबंध में हिन्दी के अनेक साहित्यकारों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषा दी है। हिन्दी के सबसे बड़े साहित्यकार **मुंशी प्रेमचन्द** जी ने यथार्थ का महत्व साहित्य में स्वीकार किया है और इसके साथ ही उन्होंने

यथार्थ को साहित्य की एक कसौटी मानते हुए अनुभूति की यथार्थता पर बल दिया है। उन्होंने यथार्थवाद की परिभाषा और उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है – ''यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विशेषताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्रण होता है और इस तरह यथार्थवादी हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है। हमको अपने चारों तरफ बुराई-ही-बुराई नजर आने लगती है।''[1] इसके साथ ही यथार्थवाद का साहित्य में मूल सिद्धान्त निर्धारित करते समय **डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने लिखा है – ''यथार्थवाद का मूल सिद्धान्त है, वस्तु को उसके यथार्थ रूप में चित्रित करना। न तो उसे कल्पना के द्वारा चित्रित रंगों से अनुरंचित करना, और न किसी धार्मिक या नैतिक आदर्श के लिए उसे काँट-छाँटकर उपस्थित करना।''[2] दूसरी तरफ हिन्दी के प्रगतिशील अलोचक **शिवदान सिंह चौहान** ने साहित्य में यथार्थ के अन्यतम महत्व को प्रतिपादित किया है। इसके अलावा उन्होंने इसकी तरफ भी संकेत किया है कि उत्कृष्ट साहित्य का सृजन सत्य के अभाव में नहीं किया जा सकता। उन्होंने यथार्थवाद को ही साहित्य का प्रधान मानदंड स्वीकार किया है। यथार्थवाद की परिभाषा देते हुए **आचार्य नंददुलारे वाजपेयी** जी ने लिखा है – ''यथार्थवाद वस्तुओं की पृथक सत्ता का समर्थक है, वह समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि की ओर अधिक उन्मुख रहता है। यथार्थवाद का संबंध प्रत्यक्ष वस्तु जगत् से है।''[3]

सामान्य तौर पर यथार्थ और यथार्थवाद में कोई सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक स्पष्ट अन्तर नहीं है। यथार्थ के संबंध में **सुवास कुमार** ने लिखा है – ''यथार्थ मूलत: दर्शनशास्त्र से संबंधित शब्द है। यथार्थ उसे कहते हैं जिसकी वास्तव में सत्ता है, अस्तित्व है – That which actually exists. {(जो है, वही सत्य है – Truth is what is (-Theodore Dreiser) तथा, सचाई सचाई ही होती है - Is not the truth the truth? (Falstaff)} इस अस्तित्व के साथ ही वस्तुगत यथार्थ जुड़ा होता है। पदार्थ अपने रूप की सम्पूर्णता में वस्तुगत यथार्थ है।''[4] यथार्थ वह है जो साहित्य में समाज के वास्तविक चित्रण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसी प्रकार से यथार्थवाद वह है जो साहित्य की किसी भी विधा के क्षेत्र में उस यथार्थ पर बल देता है और उसके प्रति निरन्तर आग्रहशील रहता है। इसीलिए यथार्थवादी साहित्यकार अपनी रचनाओं में मानव-समाज और मानव-जीवन का जो चित्रण प्रस्तुत करता है उसका आधार भावना अथवा कल्पना का जगत् न होकर भौतिकवादी जगत् होता है जिसकी यथार्थ सत्ता विद्यमान रहती है। एक यथार्थवादी कहानीकार मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों का यथातथ्य चित्रण अपनी रचनाओं में करता है। जो अपनी यथार्थता के कारण ही सजीव और विश्वसनीय होता है। वह साहित्य को केवल मानसिक परितृप्ति और भावात्मक अनुभूति का विषय न मानकर जीवन और समाज के विकास के लिए एक सशक्त माध्यम मानता है। इस दृष्टि से यथार्थ वह है जो साहित्य में वास्तविकता के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है और यथार्थवाद उसे कहते हैं जो उस यथार्थपरक साहित्य को एक विशिष्ट वैचारिक अर्थ प्रदान करता है। इस प्रकार से यथार्थ और यथार्थवाद एक दूसरे के पर्यायवाची होते हुए भी पृथक अस्तित्व से युक्त रहते हैं। यथार्थवाद साहित्य का बाह्य आवरण है तो यथार्थ उसका प्राण। यथार्थ और यथार्थवाद के विषय में विभिन्न विद्वानों में जो मत व्यक्त किए हैं वे इस तथ्य के

परिचायक हैं कि यथार्थवाद यथार्थपरक साहित्य की एक शैलीगत विशेषता न होकर उसमें निहित एक विशिष्ट विचारधारा है। इस विचारधारा का अनुगमनकर्ता साहित्यकार केवल एक चित्रकार की भांति साहित्य में वास्तविक जीवन का चित्रण न करके उसे एक सुसम्बद्ध वैचारिक श्रृंखला में बद्ध करके प्रस्तुत करता है। सामाजिक जीवन में परिवर्तन और विकास के समानांतर ही यथार्थ के स्वरूप में भी परिवर्तन और विकास होता रहता है। यथार्थवाद भी समय के अनुरूप विभिन्न परिस्थितियों और जीवन के वास्तविक रूपों से प्रभावित होता रहता है। इस तरह से आज के साहित्य के लिए यथार्थ और यथार्थवाद अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

प्रत्येक युग के साहित्य में यथार्थ और कल्पना का समन्वय दिखाई देता है। युग जीवन की पृष्ठभूमि में साहित्य में स्वीकृत जीवन-मूल्यों के समानांतर इन दोनों की मात्रा अनुपात अवश्य घटता-बढ़ता रहता है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आधुनिक युग के पूर्व लिखा गया अधिकांश साहित्य कल्पना प्रधान है, यद्यपि उसमें समकालीन जीवन के यथार्थपरक संकेत भी यत्र-तत्र देखने को मिल जाते हैं। आधुनिक युग में लिखा गया गद्य व पद्य साहित्य भी यथार्थ और कल्पना का मिश्रण है परन्तु ज्यों-ज्यों साहित्य जीवन के निकटतर आता जा रहा है, उसमें यथार्थ का अनुपात बढ़ रहा है। यथार्थपरक साहित्य का सृजन कल्पना प्रधान साहित्य रचना की तुलना में अधिक साधना की अपेक्षा रखता है।

अब देखना यह है कि इस यथार्थवादी दृष्टिकोण के ऊपर रणेन्द्र का साहित्य खरा उतरता है कि नहीं। कहने का अर्थ यही है कि रणेन्द्र के साहित्य (उपन्यास, कहानियां, कविताओं) में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन के यथार्थ की खोज व जांच-पड़ताल करनी है। इसके लिए हम सबसे पहले उनका उपन्यास लेंगे और उसमें आदिवासी जीवन और समस्याओं के यथार्थ को परखने की कोशिश करेंगे।

रणेन्द्र के उपन्यास में आदिवासी जीवन का यथार्थ

रणेन्द्र का उपन्यास झारखंड के एक आदिवासी समुदाय पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में रणेन्द्र ने 'असुर' जनजाति के जीवन, उसकी समस्याओं तथा उसके संघर्ष का यथार्थ रूप प्रस्तुत किया है। और इसके ही साथ उनके यथार्थपरक इतिहास के बने मिथिकीकरण को तोड़ने की कोशिश की है। 'असुर' शब्द को सुनते ही हमारे मन में ऐसे लोगों की तस्वीर उभरती है जो विचित्र, भयानक, मायावी, खूँखार, नरभक्षी और असभ्य हों तथा जिनके नाखून और दाँत बहुत ही बड़े-बड़े हों। असुरों की यह तस्वीर पूरे भारतीय साहित्य में गढ़ी गयी व प्रचारित की गयी कथाओं तथा धारणाओं की देन है। वैदिक साहित्य से लेकर रामायण, महाभारत और विभिन्न पुराणों में निर्मित असुरों की यह छवि एक ओर उनके समुदाय और जीवन के दानवीकरण और दूसरी ओर उनके जीवन के यथार्थ के मिथकीकरण का परिणाम है। क्योंकि प्रभुत्वशाली सत्ताएं जिनका विनाश करना चाहती हैं उनका वह पहले दानवीकरण करती हैं, फिर उन पर हमला करती हैं

और अन्त में उनके जमीन तथा जीवन पर कब्जा कर लेती हैं। और यह प्रक्रिया भारत में बहुत पहले यानि वैदिक काल से लेकर आज तक चली आ रही है। भारत में वर्तमान समय में मुख्यधारा के लोग आदिवासियों के प्रति यही प्रक्रिया चला रहे हैं। वहीं दूसरी तरफ यही प्रक्रिया अमेरिका में कोलम्बस के समय से जार्ज बुश के समय तक, अमेरिका के मूल निवासी रेड इंडियन से आरम्भ होकर सद्दाम हुसैन तक चलती दिखाई देती है। मिथकीकरण की प्रक्रिया जुड़ी हुई है इसी दानवीकरण की प्रक्रिया से। मिथकीकरण की प्रक्रिया में कल्पना की सहायता से यथार्थ को अयथार्थ बनाया जाता है और इतिहास को रहस्यमय। इस छल-कपट-योजना के आधार पर ही विरोधियों के अस्तित्व की अनिवार्यता को अस्वीकार करना आसान हो जाता है। वर्तमान समय में यही दानवीकरण और मिथकीकरण की प्रक्रिया उस बौद्धिक साम्राज्यवाद का बड़ा हिस्सा है जो वास्तव में भौतिक साम्राज्यवाद के आगे-आगे चलता रहता है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' के उपन्यासकार रणेन्द्र का परिचय उपन्यास के शुरूआत में एक असुर व्यकित से होता है जिसका नाम लालचन्द असुर है। उस सुदर्शन व्यक्ति को देखकर उपन्यासकार दंग रह जाता है क्योंकि मुख्यधारा के समाज में असुरों के बारे में प्रचलित कथाओं के आधार पर जो धारणा उपन्यासकार के मन में थी, उसके एकदम विपरीत है। वह व्यक्ति जो उसके सामने खड़ा है। मुख्यधारा के किसी व्यक्ति जैसा ही है। इसीलिए लेखक लिखता है – ''सुना तो था कि यह इलाका असुरों का है, किन्तु असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लम्बे-चौड़े, काले-कलूटे, भयानक दाँत-वात निकले हुए माथे पर सींग-वींग लगे हुए होंगे। लेकिन लालचन्द को देखकर सब उलट-पुलट हो रहा था। बचपन की सारी कहानियाँ उलटी घूम रही थीं।...आज हर बात मुझे चौंका रही थी। लग रहा था कि हफ्ता दिन बाद आज आँखें खुलीं हों। यह छरहरी-सलोनी एतवारी भी असुर ही है, यह जानकर मेरी हैरानी बढ़ गयी थी। हफ्ता भर से इसे देख रहा हूँ, न सूप जैसे नाखून दिखे न खून पीने वाले दाँत। कैसी-कैसी गलत धारणाएं!''[5] उपन्यासकार ने मुध्यधारा के लोगों के द्वारा असुरों के संबंध में प्रचारित की गयी मिथकीय धारणा या पूर्वाग्रह को तोड़कर पाठकों के समाने उनके बारे में यथार्थपरक तस्वीर प्रस्तुत की है। यह यथार्थ असुरों के रंगरूप और व्यवहार के बारे में प्रचारित धारणा को तो तोड़ेगा ही साथ में यह यथार्थ पाठकों को चकित कर देने वाला भी है।

उपन्यासकार रणेन्द्र ने आगे पाट के निवासी असुर समुदाय के जीवन में व्याप्त अंधविश्वासों के कारणों का यथार्थ चित्रण किया है। असुर समुदाय के बीच व्याप्त अंधविश्वास का कारण अशिक्षा है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में धर्म के नाम पर कुछ ज्यादा ही अंधविश्वास व्याप्त दिखाई देता है। उपन्यास का एक पात्र (लालचन्द) कहता है ''देवी पूजन के सीजन में बलि खुद-ब-खुद गाँव पहुँच जाता है। माँ की किरपा। जहाँ अल-बल बोलता, आधा पगलाया आदमी उस टाइम गाँव में पहुँचा कि हम समझ जाते हैं कि देवी की बुलाहटा पर पहुँचा हुआ बलि है।''[6] पूजा के नाम पर एक आदमी की बलि चढ़ाई जाती है। यह अंधविश्वास केवल आदिवासी समाज में ही नहीं बल्कि हिन्दू समाज (गाँव) में भी व्याप्त दिखाई देता है। इसका मुख्य कारण है शिक्षा का अभाव। जब तक शिक्षा का प्रसार नहीं होगा तब तक पूजा के नाम पर बलि चढ़ाई जाती

रहेगी। अब बात आती है शिक्षा की तो आदिवासी समाज में सरकार अपना विकासवादी चेहरा दिखाने के लिए उनके लिए आवासीय विद्यालय भी खोलता है। लेकिन स्पष्ट है कि यह सब फुसलाने मात्र की प्रक्रिया से ज्यादा कुछ भी नहीं होता। कहने का अर्थ यह है कि आदिवासी समाज में सरकार की तरफ से स्कूल तो खोले जा रहे हैं लेकिन वहां की व्यवस्था ढंग की है ही नहीं। जो वहां रहकर पढ़ा या पढ़ाया जाय, न तो स्कूल ही पूरी तरह से बना है, न ही बच्चों के लिए अच्छे आवास हैं और न ही उनको खाने-पीने की सुविधा दी जाती है। बस स्कूल खोलकर विकास का नाम देना ही इनका मुख्य उद्देश्य होता है। जिसका उपन्यासकार ने पाठकों के सामने एक पात्र के माध्यम से सरकार के द्वारा किये जा रहे विकास के नाम पर राजनीति का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत किया है। इस राजनीति को उपन्यास के एक पात्र के द्वारा यथार्थ को सामने लाया गया है। जगप्रसिद्ध स्कूल के संदर्भ में जब लालचंद चुनौती देता है – ''क्या तो आदिवासियों का स्कूल आवासीय स्कूल! पहले जाकर पाथरपाट का जगप्रसिद्ध स्कूल देख आइए। तब समझ में आ जाएगा कि असल स्कूल क्या होता है और फुसलाने वाला स्कूल क्या होता है।''[7] दूसरी तरफ विकास के नाम पर पाथर-पाट में एक शानदार स्कूल खोला जाता है जो असुरों के सौ से ज्यादा घरों को उजाड़कर बनाया जाता है। आदिवासियों के लिए बनाये गये इस सुविधाजनक स्कूल में वास्तव में गैर-आदिवासी बच्चे ही धड़ल्ले से पढ़ते हैं। यहाँ पिछले तीस सालों से किसी भी आदिवासी बच्चे का दाखिला नहीं हुआ है रुमझुम जैसा पात्र इसका जीता-जागता उदाहरण है। उपन्यास का पात्र रुमझुम कहता है – ''पिछले तीस वर्षों का रजिस्टर उठाकर देख लीजिए जो एक भी आदिम जाति परिवार के बच्चे ने इस स्कूल में पढ़ाई की हो!''[8] आदिवासियों के लिए बनाए गये इस सुविधाजनक स्कूल में आदिवासियों को दाखिला न देने का आखिर कारण क्या है ? मेरे विचार से मुख्यधारा के लोग यह समझते हैं कि दिन-रात नशे में लिप्त रहने वाले आदिवासी अगर शिक्षित हो जायेगा तो आसानी से उन्हें अपने चंगुल में नहीं रख सकेगें और न ही उनका मनमाना शोषण कर सकेंगे। उन्हें शायद यह भी डर रहा होगा कि अगर आदिवासी आर्थिक-सामाजिक तौर पर सम्पन्न हो जाएगा तो उन्हें हर क्षेत्र में दावेदारी की चुनौती मिलेगी। लेखक आगे इसकी तरफ भी इशारा करता है की इस सुविधाजनक स्कूल को बनाने के चक्कर में पाथर-पाट में रहने वाले आदिवासियों को विस्थापित किया गया वह आज भी पाथर-पाट से कहीं दूर अपनी जैसी-तैसी जिन्दगी गुजार रहे हैं। सरकार की तरफ से न तो उन्हें पुनर्वास की व्यवस्था की गई और न ही उन्हें मुआवजा ही दिया गया।

रणेन्द्र के उपन्यास में असुर समुदाय के जीवन-यापन के लिए दिन-रात श्रम में डूबे रहने की तरफ भी संकेत किया गया है। असुर समुदाय के पास तथाकथित मुख्यधारा की तरह छत्तीस तरह के व्यंजन नहीं होते बल्कि उनको तो बस मकई का घट्टा ही नसीब होता है। जिसे खाकर उनके जीभ पर घट्टा पड़ जाता। कभी तो यह मकई का घट्टा भी उनको नसीब नहीं होता। उनके यहाँ के ज्यादातर घरों में भात-दाल, सब्जी भी पर्व-त्योहार का भोजन होता है। फिर भी वह इस खाने के लिए दिन-रात श्रम करते व खटते हैं, जो उपन्यासकार को अचम्भित करता कि क्या कोई मकई का घट्टा खाकर भी इतना खट सकता है? पानी के अभाव में खेतिहर

भूमि भी बंजर पत्थर-सी दिखती है। बरसात के आने से पहले ही असुर समुदाय उसी पथरीली भूमि को कोड़-जोतकर तैयार करने में रात-दिन लगे रहते दूसरी तरफ खदान में मजदूरी का काम भी कम देह तोड़ने वाला नहीं था। वह अपने पेट के लिए दिन-रात खटते रहते हैं। पुरुष तो फिर भी यह काम करके सुस्ता लेते लेकिन स्त्रियों को तो सुस्ताने का भी मौका नहीं मिलता है। वे खेत के काम से पहले और बाद में वे घर के कामों में मशीन की तरह खटती रहतीं हैं। उपन्यासकार लिखता है – ''मुँहअँधेरे जब भुरूकुआ आकाश में टिमटिमाता रहता, सूरज के जगने में अभी देर होती।...दिन की रसोई के लिए धान कूटने का यही समय होता।...सूर्योदय के साथ-साथ, रगड़ाई-सफाई से नये-नकोरे हुए चमकते बर्तनों में पानी भर लौटती दिखतीं।...उसके बाद जलावन का इन्तजाम। घर के गाय-गोरुओं को चारा, फिर रसोई में भात राँधने का कार्य-व्यापार।...लेकिन अभी भी फुर्सत नहीं। खेतों में कई काम इनके भरोसे ही रहते।''[9] इस तरह से असुर समुदाय अपने जीवन-यापन के लिए दिन-रात खटता रहता है। विडम्बना यह है कि असुर समुदाय की ऐसी दिन-रात खटने वाली जिंदगी भी मुख्यधारा के लोगों से सही नहीं जाती। वे उसे भी छीनकर उनके अस्तित्व को मिटा देना चाहते हैं।

दूसरी तरफ बच्चे के जन्म के बाद उसके नामकरण की एक रस्म निभाई जाती है जिसका असुर समुदाय के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। इनके समुदाय में बच्चे का नाम अपने पूर्वजों के नामों के आधार पर रखा जाता है। असुर समाज की इस परम्परा के बारे में **रणेन्द्र** लिखते हैं – ''दोना के पानी में पूर्वजों का नाम ले-लेकर चावल के दो-दो दाने डाले जाते। जिनके नाम से दाने पड़ते और डूब जाते तो यह माना जाता कि वह पितर बच्चे को अपना नाम देने को इच्छुक नहीं। जिनके नाम से डाले गये दाने न केवल पानी में तैरते रहते बल्कि उनके सिरे भी सट जाते तो उसी पितर का नाम बच्चे को मिल जाता।''[10] असुर समाज में यह पितर-पूर्वजों का अन्तरंग लगाव ही है जो अपने बच्चे का नाम अपने पूर्वजों के नाम के आधार पर रखते हैं। अपने पूर्वजों से ऐसा लगाव हमें तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले समाज में भी देखने को नहीं मिलता है। भले ही दंभ भरने के लिए वह अपने आप को आदिवासी समाज से सभ्य बताते हों।

आदिवासी समाज में हाट व बाजार केवल खरीद-बिक्री का स्थान ही नहीं होता है बल्कि उनके लिए ये हाट-बाजार अपने रिश्तेदारों, अपने सगे संबंधियों से भेंट मुलाकात का भी स्थल होता है। एक तरह से हाट-बाजार आदिवासी जीवन का सामाजिक सम्मेलन होता है। इसके बारे में उपन्यासकार **रणेन्द्र** लिखते हैं – ''आदिवासी समाज में हाट केवल खरीद-बिक्री की जगह नहीं थी बल्कि वह सामाजिक सम्मेलन की भी जगह थी। दस-पन्द्रह मील तक के सगे संबंधियों से भेंट होती। बहुएँ अपने नैहर के लोगों से मिलतीं, तो उनकी छलकती खुशी को देखकर कोई भी अन्दाजा लगा लेता कि ढेर दिन बाद मुलाकात हुई है।...अपनों का सर-समाचार, मरनी-जीनी, सबकी खबरें हाट में ही मिलती।''[11] हाट-बाजार का महत्व मुख्यधारा के समाज में ऐसा देखने को नहीं मिलता है जैसा कि आदिवासी समाज में। अगर थोड़ा कुछ महत्व है भी तो वह गाँवों में ही दिखाई देता है, शहरों में हाट-बाजार सिर्फ खरीद-बिक्री का स्थान भर है। मेल मिलाप का स्थान नहीं। ये

बात और है कि वर्तमान समय में आदिवासी समाज में भी 'उपभोक्तावादी संस्कृति' के प्रलोभनों का कुप्रभाव बढ़ रहा है।

आदिवासियों के जीवन में अनेक मुश्किलें आती है और हर मुश्किल से सामना के लिए उनके पास संबंधों की आत्मीयता है जो उनके अस्तित्व, आत्मसम्मान और अस्मिता की रक्षा के लिए लम्बे व लगातार संघर्ष की प्रेरणा जगाता है। असुर समुदाय में स्त्री-पुरुष के बीच का संबंध बहुत आत्मीयतापूर्ण होता है। इस समाज में स्त्री सहज जीवन जीने के लिए स्वतंत्र है। उपन्यासकार के शब्दों मे – ''महिलाएं इस समाज में सियानी कहलाती थीं, जनानी नहीं। 'जनानी' शब्द कहीं-न-कहीं केवल जनन, जन्म देने की प्रक्रिया तक उन्हें संकुचित करता, जबकि 'सियानी' शब्द उनकी समझदारी-सयानेपन को इंगित करता मालूम होता।''[12] असुर समुदाय में स्त्री-पुरुष के बीच साहचर्य प्रेम विकसित होना मुख्यधारा के समाज की तरह कोई गुनाह नहीं माना जाता बल्कि वह उत्सव का अवसर माना जाता है। वर्तमान समय में बड़े-बड़े शहरों में विवाह की रूढ़ियों से मुक्त होकर स्त्री-पुरुष एक साथ रहकर जीते हैं जिसे कानून की भाषा में 'लिविंग-टुगेदर' कहते हैं। ऐसा करने पर वे अपने आपको बहुत ही प्रगतिशील समझते हैं जबकि यथार्थ यह है कि मुख्यधारा में ये चलन आदिवासी समाज से ही आया है। इस उपन्यास की नायिका ललिता कहती है – ''आदिवासी समाज में तो यह बहुत पुराने दिनों से मान्य है। विवाह में किसी तरह की कठिनाई आ रही हो, तो लड़का-लड़की साथ-साथ रहना शुरू कर देते हैं। लेकिन बेटा-बेटी की शादी के पहले अपनी शादी की रस्म निभानी पड़ती है। यह लिविंग टुगेदर का फैशन यहीं से वहां गया है।''[13] इस तरह से उपन्यासकार ने आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुष के बीच के संबंधों का यथार्थ चित्रण किया है, जो मुख्यधारा के समाज में व्याप्त स्त्री-पुरुष के संबंधों से अलग है।

यह सच है कि आदिवासी स्त्रियों को अपना स्वतंत्र जीवन जीने तथा पुरुषों के कामों में सहयोगी होने और कभी-कभी पुरुष से भी ज्यादा काम करने के बावजूद उन्हें समाज में दोयम दर्जे का ही समझा जाता है। इसकी तरफ उपन्यासकार ने कहीं भी संकेत नहीं किया है। वे हमेशा स्त्री को मजबूत, नेतृत्वकारी और संघर्षशील ही दिखाते हैं। आदिवासी समाज में अपने इच्छानुसार दोस्त चुनने की एक परम्परा है। इस प्रक्रिया में लड़का अपना दोस्त लड़के को चुनता है और लड़की अपने दोस्त के रूप में लड़की को चुनती है। जिसे सहिया कहा जाता है। साथ में ही इस परम्परा के अनुरूप दोनों एक दूसरे को उपहार भेंट करते हैं तथा चुने गये दोस्त को एक नया नाम भी दिया जाता है। इस उपन्यास में उपन्यासकार एक आदिवासी पात्र (लड़की) उपन्यास के पुरुष पात्र (मास्टर जी) को अपने दोस्त के रूप में चुनती है। वह कहती है – ''आप से दोस्ती जमेगी। चलिए! हम लोग सहिया जोड़ लें।'' यह ललिता की घोषणा थी। सहिया जोड़ने, यानी दोस्ती की विधिवत् घोषणा की अच्छी खासी प्रक्रिया थी।...अब तो एक दूसरे को नाम से नहीं फूल कहकर सम्बोधित करना था।''[14] यह बात मेरे गले से नहीं उतरती। ऐसा हमें असुर समाज में कहीं भी देखने को नहीं मिलता है।

यहाँ पर उपन्यासकार आदिवासी समाज में स्त्रियों को स्वतंत्र दिखाने के चक्कर में यह भूल गया जान पड़ता है कि वह असुर समाज के यथार्थ को उजागर करने हेतु अपने उपन्यास में लिख रहा है। इसलिये वह यथार्थ से दूर भटकता हुआ जान पड़ता है। जो आदिवासियों के जीवन और उनके साहित्य दोनों के लिए भी सही नहीं है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' के उपन्यासकार रणेन्द्र ने असुर समाज का यथार्थ चित्रण करते हुए इस बात की तरफ इशारा किया है कि उस समाज का जीवन बहुत ही लोकतांत्रिक है और सामुदायिक भी। असुरों के हर गाँव के बाहर या गाँव के बीच में एक अखड़ा होता है – ''जहाँ गुरुवार के दिन गाँव के सारे बुजुर्ग, समझदार, सयाने बैठते और गाँव-घर-समाज की समस्या पर बतियाते हैं।''[15] यह अखड़ा केवल गाँव-घर-समाज के बारे में बहस का ही केन्द्र नहीं होता बल्कि बहस के बाद ही तो इसका असली महत्व दिखाई देता है। जिसमें पुरुष के साथ-साथ स्त्रियाँ और प्रकृति के साथ-साथ संस्कृति होती है, क्योंकि बहस के बाद नाच-गाने का कार्यक्रम देर रात तक चलता है। इसलिए अखड़ा असुर समाज का सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन का भी केन्द्र होता है। जिसमें स्त्री-पुरुष की बराबर भागीदारी होती है। इस उपन्यास में एक उत्सव पर, आयोजित झूमर नाच की गति, लय और प्रभाव का यथार्थ तथा बिम्बात्मक चित्रण प्रस्तुत किया है, जो उपन्यासकार के शब्दों में इस प्रकार है – ''अर्धवृत्ताकार में झुककर कुछ कदम आगे बढ़ाना फिर सिर उठाकर पीछे हटना। मानो हरे-भरे धान के खेत में हवा बह रही हो और फसल हवा के संग झूमकर झुक रही हो, उठ रही हो। मानो बाँस का जंगल, तेज हवा के साथ लचक-लचक कर किलोल कर रहा हो। मानो नदियों की लहरें धीमी लय में गिर-उठ रही हों। आकाश में पंछी, समूह में उड़ान भरते घोंसले को वापस जा रहे हों। प्रकृति खुद अपने आदिम रूप में पूरे ब्रह्मांड के दिव्य नाच के साथ एकाकार हो रही थी।''[16] यह नृत्य और संगीत ही तो आदिवासी समज में स्त्री-पुरुष के बीच के राग, प्रकृति से अनुराग और जीवन से प्रेम की सहज अभिव्यक्ति होती है। लेकिन वर्तमान समय की एक यह भी सच्चाई है कि आदिवासी समुदाय पर बहिरागतों के 'उपभोक्तावादी संस्कृति' के द्वारा उत्पन्न किये गये लालच के चलते स्त्री-पुरुष का संबंध भी नीरस होता जा रहा है। उपन्यासकार ने असुर समाज के जीवन के बीच संबंधों और उनकी समस्याओं को गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया है जो उनके जीवन के यथार्थपरक मर्म को उकेरता है। इस उपन्यास में कुल पाँच गीत हैं जो पूरी कथा को गति तो प्रदान करते ही हैं साथ में उपन्यास के प्रभाव को गहराई भी प्रदान करते हैं। उपन्यास के आरम्भ के पहले ही एक असुर मंत्र दिया हुआ है जो असुर समुदाय के जीवन की सीमा और संभावना, यथार्थ और आकांक्षा तथा भावना और कल्पना को अभिव्यक्त करता है। दूसरा गीत असुरों के परिवार में देवर-भाभी के बीच मौजूद आत्मीय लगाव को व्यक्त करता है, जो मुख्यधारा के गाँवों में भी दिखाई देता है। तीसरा गीत असुर समाज की स्त्रियों की वर्तमान स्थिति को लेकर शिकायत या विलाप का है। चौथा गीत असुरों में स्त्री-पुरुष के बीच के प्रेम की प्रगाढ़ता का गीत है। पांचवां और अन्तिम गीत एक रेड इण्डियन गीत है जो रेड

इंडियन समुदाय के सर्वनाश की सच्चाई और असुर समाज के अन्त की सम्भावना का गीत है। यह गीत असुर समाज की हताशा का गीत है और पूरे उपन्यास का प्राण। यह गीत कुछ इस प्रकार है –

''हम बाकी दिन कैसे गुजारेंगे

इसका कोई अर्थ नहीं, हमारी रात

भरपूर काली रात होने की आश्वासन दे रही है

क्षितिज पर एक भी तारा नहीं

उदास हवाएं, दूर कहीं विलाप कर रही

हमारे कदमों के ठीक पीछे

हमारा दुर्भाग्य चल रहा है

एक जख्मी हिरण

अपने पीछे भागते शिकारी की आवाज सुनकर

अपने आप को

अपनी पूर्ण मृत्यु के लिये तैयार कर रहा है।''[17]

अतः स्पष्ट है कि उपन्यासकार ने इन गीतों के माध्यम से असुर समाज में जीवन के बीच संबंधों और उनकी विडम्बानाओं का यथार्थ चित्रण किया है।

उपन्यासकार ने सरकार द्वारा विकास के नाम पर आदिवासी क्षेत्र में जो विनाश की योजनाएं बनाई जा रही हैं उसकी वास्तविकता को उजागर किया है। एक तरफ तो असुरों के पास जमीनें कम हैं। जितनी हैं भी वे एक फसली ही हैं जिसमें एकमात्र फसल मक्के की बरसात में होती है। इन जमीनों को बॉक्साइट की खानें भी निगलती जा रही हैं। इतना ही नहीं गड्ढ़ों के पानी में पलनेवाले मच्छर सेरेब्रल मलेरिया की महामारी भी फैला रहे हैं। दूसरी तरफ सरकारी महकमे ने असुर समुदाय एवं इन जैसे तमाम आदिवासियों के विकास के लिए जैसी-जैसी योजनाएं बनाई हैं, उन पर हँसा जा सकता है। इस उपन्यास में बरसाती आलू लगाने की योजना का प्रसंग आया है – ''कोयलबीघा ब्लॉक के छोटका हाकिम बी.डी.ओ. साहब और उनके स्टॉफ एकाएक सक्रिय हो गये। कृषि पदाधिकारी, जनसेवक, सबका पाट पर डेरा। क्या तो बरसाती आलू लगाने हैं! पाट के सब परिवारों को, चाहे वो असुर हों, बिरजिया हों, कोरबा हों, सबके पूरे अनुदान पर बीज आया था।

क्या तो ग्यारह लाख का बीज और सात लाख का खाद भेजी थी सरकार! जो आदिम जाति परिवार जितना खेती करना चाहे उतना बीज दिया जा सकता था।''[18] आलू के खेती से जो आमदनी होनी थी, उसे ये लोग खर्च नहीं कर सकते थे। को-आपरेटिव आलू खरीदेगी और पैसा बैंक में जमा करा देगी, उसी पैसे से अगले साल आलू लगाना है। बीच में भुखमरी की स्थिति में भी यह पैसा नहीं निकल सकता। भला यह कैसे संभव है? पैसा न निकालने पर महामारी, अभाव और भूख के कारण तो लोग मर जायेंगे। ये बात सरकार समझ कर भी नासमझ बनी हुई है। यानी दोतरफा मार झेलने को लाचार हैं असुर समुदाय के लोग। विकास और अविकास दोनों के ही ये आहार बने हुए हैं।

अभाव, भुखमरी और अविकास के मारे आदिवासी समुदाय और उनकी बेटी-बहुएं भी असुरक्षित हैं। अभावों की मार ने ही अपने गाँव-देश से दूर इनकी बेटियों को घरेलू दाइयों के रूप में नारकीय जीवन के दलदल में धकेला है। भुखमरी, गरीबी और अविकास के चलते ही तो असुर समाज की जवान लड़कियों को जमींदारों, नौकरशाहों, खदान मालिकों और प्रभावशाली कारिन्दों की रखैल बनने को मजबूर होना पड़ता है। महानगरों से लेकर डेरों में काम करने के लिए असुर आदिवासी जवान लड़कियां ही चाहिए और इस काम को आसान बनाने में सिंह जी जैसे बाहरी से लेकर रामचरन जैसे बिगड़ैल असुर जवान ही काम आते हैं – ''खासकर लड़की – सियानीमन के सप्लाई में थोड़ा ज्यादा ही इंटरेस्ट लेता था सिंहवा।...उसके हरामी दलाल घर-घर सूँघा करते। कोई बाहरी जन दलाल थोड़े थे। यही रामचन जैसे घरे-गाँव के आदमी दलाली करते थे। कच्ची उम्र की लड़की मन को फुसलाना दिल्ली कलकत्ता का सब्जबाग दिखाना।''[19] घासी टोले की तो नस्ल ही गोनू सिंह के खानदान ने बदलकर रख दी है। उनकी बेटियाँ और जमीन तो हाथों से निकलती जा रही हैं। अपने समाज की ऐसी स्थिति के कारण असुर समाज के लोग चिंतित हैं और बेचैन भी। इसे इस गीत के माध्यम से व्यक्त किया गया है –

''काठी बेचे गेले असुरिन

बांस बेचे गेले गे

मेठ संगे नजर मिलयले

मुंशी संग लासा लगयले गे

कचिया लोभे कुला डूबाले

रुपया लोभे जात डूबाले गे।''[20]

डेरों और महानगरों में खटने वाली असुर आदिवासी लड़कियाँ तो शोषण झेलती ही हैं, बाबाओं-पोंगा पंडितों के जाल में उलझकर तो नाबालिग लड़कियां भी खिलने से पहले ही मुर्झाने को अभिशप्त हैं। असुरों का हितचिंतक बनकर अवतरित हुआ शिवदास बाबा अपने आवासीय विद्यालय और आश्रम को अय्याशी का अड्डा बनाकर उनकी लड़कियों का यौन-शोषण करने से बाज नहीं आता। शिवदास बाबा का जाल तो और भी विस्तृत है। भेद भी खुलता है पर होना क्या है? बाबा के इस कुकर्म के बारे में एक पात्र डॉ. रामकुमार कहता है – ''डायन भी सात घर छोड़कर खाती है, लेकिन ई बबवा साला राक्षस है राक्षस।''[21] ये आदिवासी स्त्रियों के शोषण के नग्न यथार्थ का चित्रण है, जो उनसे छल करके किया जाता है।

भूमण्डलीकरण के साथ-साथ जो धारणाएं भारत में आयी हैं उनमें से एक है ग्लोबल विलेज की धारणा। इसके अनुसार यह माना जा रहा है कि पूरा विश्व एक गाँव बन गया है। ग्लोबल गाँव के रूप में देशी-विदेशी मिश्रित विचारों का विलक्षण नशा पैदा कर रहा है। व्यक्ति और समाज के जीवन के प्रत्येक प्रसंग में देशी-विदेशी का फर्क मिट गया है। लालच और लूट से संचालित पूँजीवाद के भूमण्डलीकरण के दौर में भारत की प्रकृति और सम्पत्ति की लूट की खुली छूट मिली हुई है। प्राय: प्राकृतिक खनिज पदार्थ सबसे अधिक वहीं हैं जहाँ आदिवासी रहते हैं। आदिवासी क्षेत्र में पाये जाने वाले खनिज पदार्थों में कोयला, लौह, अयस्क, अभ्रक, बॉक्साइट, मैगनीज, ताँबा, काओलिन, यूरेनियम आदि हैं। इसीलिए आदिवासियों की जमीन और जिन्दगी खतरे में है। आदिवासियों के लिए खनिज पदार्थ वरदान न होकर अभिशाप बना हुआ है। उपन्यासकार ने उपन्यास में आदिवासियों का शोषण करने वाली कंपनियों का विस्तार से जिक्र किया है। उपन्यास में दो कम्पनियों का उल्लेख किया गया है। पहली कंपनी विदेशी वेदांग, यह कंपनी ग्लोबल गाँव के देवतओं में से सबसे बड़ा देवता है। कंपनी तो विदेशी है पर नाम देशी है। दूसरे देवता के रूप में टाटा कंपनी है। यथार्थ तो यह है कि इन दोनों कंपनियों ने मिलकर असुरों के पारम्परिक आर्थिक स्रोत को ही छीन लिया है। अर्थात् असुरों के लोहा गलाने और औजार बनाने के हुनर का अंत कर दिया है। उनके द्वारा बनाये गये औजारों की पूंछ अब बाजार में नहीं रही। इसलिए असुर मानते हैं कि टाटा कंपनी ने उसका जो विनाश किया है वह असुर जाति के पूरे इतिहास की सबसे बड़ी हार है। **रणेन्द्र** की मान्यता है कि असुरों के विरुद्ध – ''जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी, हजार-हजार इन्द्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया है। असुर-बिरजिया, बिरहोर-कोरबा आदिम जाति आदिवासी सब मुख्यधारा में शामिल होने ही वाले हैं। मुख्यधारा की लहरें चाँद छूने को बेताब थीं। वह लहराती-इठलाती राज्यों की राजधानियों से होती वाया दिल्ली, वाशिंगटन डीसी की ओर दौड़ी जा रही हैं।''[22] ऐसा इसलिए है कि अब पूँजीवाद वह विश्व व्यवस्था है जिसका केन्द्र अमेरिका जैसा देश है। आर्य देवता तो असुरों की हत्या को धर्म मानते थे, लेकिन ग्लोबल गाँव के देवता असुरों और आदिवासियों को अपने विस्तार के रास्ते का रोड़ा मानते हैं, इसीलिए उनके अस्तित्व को अनावश्यक समझते हैं। यह आदिवासियों की ज्लंत समस्या है जिसका उपन्यासकार ने अपने उपन्यास में यथार्थ चित्रण किया है।

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास के केन्द्र में वैसे तो झारखंड के कीकट क्षेत्र के असुर आदिवासी हैं, लेकिन उपन्यासकार रणेन्द्र यह जानते हैं कि जब से भारत में पूँजीवाद का भूमण्डलीकरण आया है तब से पूरे देश के आदिवासियों का सब कुछ, उनकी प्रकृति, संस्कृति और जीवन खतरे में हैं इसीलिए देश के हर क्षेत्र के आदिवासी आत्मरक्षा के लिए लड़ रहे हैं। जिसमें छत्तीसगढ़, मणिपुर, केरल, महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश के यथार्थपरक संघर्ष का रणेन्द्र ने उपन्यास में संकेत दिया है। और उन सभी संघर्षों में स्त्रियों की नेतृत्वकारी भूमिका और बहादुरी के प्रति गहरा सम्मान व्यक्त किया है। देखा जाय तो इन आदिवासियों की लड़ाई भी अपने जमीन अर्थात धरती को बचाने की लड़ाई है। इसीलिए उपन्यासकार **रणेन्द्र** सोचते हैं – ''धरती भी स्त्री, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और उसके लिए लड़ाई लड़ती सत्यभामा, इरोम शर्मिला, सी.के.जानू. सुरेखा दलबी और यहाँ पाट में बुधनी दी और सहिया ललिता भी स्त्री। शायद स्त्री ही स्त्री की व्यथा समझती है। सीता की तरह धरती की बेटियाँ – धरती में समाने को तैयार।''[23] ये सही है कि इरोम शर्मिला, सी.के.जानू. जैसी स्त्रियों ने अपने अधिकार, जल जंगल और जमीन के लिए संघर्ष किया था और आज भी संघर्ष कर रही हैं। विडम्बना यह है कि उनके संघर्ष को मुख्यधारा के लोग धोखे से या छलावे से बीच में ही खत्म करने की कोशिश करते हैं। इस उपन्यास में भी मुख्यधारा के लोगों की इस छलावापूर्ण कोशिश को दिखाया गया है। आदिवासी अपने हक और अधिकार (विस्थापितों को पुनर्वास) के लिए वेदांग कंपनी और पुलिस प्रशासन से बात करने के लिए जाते 15 लोगों को धोखे से बम से उड़ा दिया जाता है। ये बात और है कि फिर भी उनका संघर्ष रूकता नहीं बल्कि और तेज हो जाता है।

वर्तमान समय में आदिवासी जिस विकराल संकट का सामना कर रहे हैं उसका मूल कारण है राष्ट्र-राज्य की अपार ताकत और आतंककारी हिंसक प्रवृत्ति। यह सही है कि भूमण्डलीकरण की विचारधारा के रूप में जो उत्तर आधुनिकतावाद आया उसने यह घोषणा जरूर की थी कि राष्ट्र-राज्य का अन्त हो गया है, लेकिन सच्चाई यह है कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया को सफल बनाने और उसका विरोध करने वाली प्रत्येक कोशिश को कुचलने के लिए राष्ट्र-राज्य तत्पर है भारत में भी और पूरी दुनिया में भी। इस संबंध में **मैनेजर पाण्डेय** अपने लेख 'यथार्थ से मिथक बनते एक समुदाय की व्यथा कथा' में लिखा है – ''जब राष्ट्र राज्य का ग्लोबल गाँव के देवताओं से गठजोड़ होता है तब वे दोनों जितने अधिक लालची होते हैं उतने अधिक खतरनाक भी। उनके लोभ-लालच को बढ़ाने में विज्ञान उनकी मदद करता है। वे ''सैटेलाइट की आँखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, झारखण्ड आदि राज्यों की खनिज सम्पदा को, जंगल और अन्य संसाधन देखते हैं तो उन्हें लगता है कि अरे, इन सब पर तो हमारा हक है।''[24] मैनेजर पाण्डेय की बात तो सौ आने सही है क्योंकि इस प्रक्रिया के साथ ही आदिवासियों के अस्तित्व के खत्म होने का समय आरम्भ होने लगता है। यह सच है कि वर्तमान समय में आदिवासियों के पास कुछ हो न हो लेकिन लड़ाई लड़ने या संघर्ष करने का माद्दा जरूर है। अब तो यह सवाल भी मुँह बाये खड़ा है कि इस पाट के बाद और कहाँ? जबकि इस

पाट से भी बाहर धकेलने के सारे इंतजाम 'राष्ट्र-राज्य' और 'ग्लोबल गाँव के देवता' दोनों ने मिलकर कर लिये हैं।

उपन्यास में एक पात्र है जिसका नाम गोनू सिंह उर्फ गणेश्वर सिंह है उसकी नजर असुरों की जमीन पर है और इसी तरह नजर गड़ा-गड़ाकर ही वह तीन एकड़ टाँड से सौ एकड़ से ज्यादा दोन धनहर खेत का मालिक बन बैठा है। ब्लॉक आफिस से लेकर राजधानी तक पहुँच है उसकी। असुरों के खेत पर जबरदस्ती कब्जा करना है, उसे अपनी जमीन का रकबा बढ़ाना है लेकिन असुरों के लिए तो यह जीवन-मरण का प्रश्न है, इस प्रश्न से भागकर वे जायेंगे कहाँ? तब लड़ना ही विकल्प है। लड़ाई ठानी गई और लड़ी भी गई लेकिन नतीजा...? लड़ाई अकेले नहीं जीती जा सकती। लालचन असुर की जमीन की लड़ाई से अन्य सवालों को भी जोड़ा गया है इस उपन्यास में, ताकि आदिवासियों के सवालों को व्यापकता में उठाया जा सके साथ ही उपन्यास को ज्यादा व्यापक बनाया जा सके। इसी कारण के चलते तो कनारी नवयुवक संघ की मदद से लम्बी लड़ाई का जज्बा पाला जाता है, फिर भी इसकी सफलता पर सन्देह के बादल मँडराते दिखाई देते हैं और गरीबी, पेट तथा बीमारी की मार किसी भी उपाय को सफल नहीं होने देती।

अब असुरों ने अपनी लड़ाई में जमीन के साथ पाट के वैध-अवैध खनन से जुड़े मसलों को भी शामिल कर लिया था। तब असुरों की तरफ से शुरू हुई कभी न खत्म होने वाली लड़ाई। खदानों और प्रखंड-अँचल आफिस में काम ठप्प करा दिए गए। जब तक लड़ाई जमीन तक थी तब तक ग्लोबल गाँव के देवताओं को चिन्ता नहीं थी लेकिन अब खदानों की बन्दी ने उनकी परेशानियों पर बल डाल दिए। जब ये देवता हैं तो इनके भक्त तो होंगे ही – किशन कन्हैया पांडे मैनेजर उनके सर्वप्रमुख भक्त। जिन्होंने सभी पार्टियों के लिए महीने बाँध रखे थे। पोटी कान्ट्रेक्ट्री से लेकर अवैध खनन के माल को चालान देकर वैध बनाने का वरदान देने में माहिर। ये वरदान देने वाला तो किसी को भी अपने पाले में कर सकता है। पांडे भी इसमें सफल होता है और उसे जेम्स की बहन सलोनी लकड़ा को अपने पाले में कर लेता है जो उसके लिए तुरुप के पत्ते जैसा काम करती है और फिर रामरति तो पहले से ही मौजूद होती है वहाँ। ब्लैकमेलिंग रंग लायी और परिणाम 'कनारी नवयुवक संघ' ने अपना हाथ खींच लिया, जिसके कारण पाट पर के असुर और उनके सारे साथी गिरफ्तार हो गये। समझौते होने थे, हुए भी, जेम्स और उनके साथी नई-नकौरी मोटरसाइकिलों पर दिखने लगे। और कंपनियों से समझोते के बाद रुमझुम, भीखा, सोमा जैसे कुछ युवा नौकरी पाने में सफल भी हुए पर खुश नहीं हुए, होना भी नहीं था। वहाँ योग्यता के अनुसार काम देने के बदले ऐसे काम दिये गए जिसमें गलतियों की गुंजाइश थी। परिणामत: रुमझुम जैसा ऊर्जावान असुर व्यक्ति शराब की गिरफ्त में जाने को विवश है। ऐसी स्थिति में लड़ाई कितनी दूर तक जा सकती थी, जहाँ षड्यंत्रों, साजिशों दुरभिसन्धियों के पुख्ता जाल बिछे हों, उन्हें भेद पाना क्या इतना आसान है या हो सकता है? 'ग्लोबल गाँव के देवता' लड़ाई के निरन्तर कठिन होते जाने का अहसास शुरू से अन्त तक कराते रहते हैं। असुरों की लड़ाई की ही एक रणनीति होती है 'जनता

कर्फ्यू' जिसमें किसी भी बाहरी के आवागमन पर रोक होती है। पुलिस वहाँ भी चुनौती देती है और असुरों को हिंसा के लिए भी उकसाती है, फिर उनपर गोलियाँ बरसा देती है। यहां **मैनेजर पाण्डेय** की बात सही जान पड़ती है – ''पूँजीवाद के भूमण्डलीकरण के इतिहास से पूँजीवादी सभ्यता के दो बुनियादी विशेषताएं सामने आती हैं जिनकी ओर कार्ल मार्क्स ने संकेत किया है। वे विशेषताएँ हैं, जन्मजात बर्बरता और अथाह पाखंड। इसीलिए भूमण्डलीकरण के दौर में शान्ति के नाम पर भयावह युद्ध हुए हैं, स्वतन्त्रता के नाम पर भीषण दमन हुआ है, मानवता के नाम पर घोर अमानवीयता का तांडव हुआ है और विकास के नाम पर अभूतपूर्व विनाश हुआ है।''[25] वर्तमान समय में प्रशासन की तरफ से बिल्कुल यही हो रहा है। विकास के नाम पर आदिवासियों का विनाश, उनका जड़ से खात्मा किया जा रहा है। उपन्यासकार सरकार की इन धोखेबाज नीतियों को बारीकियों से जानता था इसीलिए उसकी रणनीतियों को और असुर समाज की संघर्ष की परिस्थिति को यथार्थपूर्ण ढंग से अपने उपन्यास में स्थान दे सका है।

यह जाहिर है कि राज्य-राष्ट्र और एकाधिकारी पूँजीवाद की एकता खतरनाक तो है ही साथ में शक्तिशाली भी। उस सर्वशक्तिमान का स्वागत करने मीडिया न जाये ऐसा तो हो ही नहीं सकता, और ऐसी स्थिति में विरोध का कोई भी विसंवादी स्वर सुनाई नहीं दे सकता। आज के समय में जनसंचार माध्यमों का यही हाल है। मीडिया बड़े-बड़े कार्पोरेट घरानों के हाथ की कठपुतली बनी हुई है। आज-कल पूरे भारत में यही हो रहा है। जब से पूँजी की सत्ता और सत्ता की शक्ति ने मिलजुलकर खनिज पदार्थों को अपने कब्जे में करने के लिए आदिवासी क्षेत्रों के जंगल और जमीन पर सम्मिलित रूप से हमला शुरू किया है उस समय से ही आदिवासी समुदाय के लोगों ने भी अपने अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा के लिए सक्रिय विरोध करना आरम्भ कर दिया है। उस विरोध को दबाने के लिए सरकार या प्रशासन ने अभियान चला रखा है। आदिवासियों को जमीन से बेदखल करने और मार भगाने के लिए पहले उनको दानव कहा जाता थ और अब उनको नक्सली कहा जाता है। यह उनकी दानवीकरण करने की एक नई भाषा है। जिसे 'ग्लोबल गाँव के देवता' का उपन्यासकार खूब अच्छी तरीके से समझता है, तभी तो इस उपन्यास में एक प्रकरण के तहत इस छलावे को प्रस्तुत किया है। उस प्रकरण में पुलिस दुर्व्यवहार से विक्षुब्ध आदिवासी 'संघर्ष समिति' के सदस्य जब विरोध प्रकट करने के लिए पुलिस थाने पहुँचते हैं तब उन्हें गालियाँ सुनने को मिलती हैं और आखिर में खाने को गोलियाँ। पुलिस के द्वारा गोली चलाये जाने के कारण छ: आदिवासी जन मारे जाते हैं। इस पूरी घटना की कार्पोरेट घराने के हाथों की बनी कठपुतली मीडिया उसे अखबार में इस तरह से छापती है – ''पाथरपाट में हुए पुलिस मुठभेड़ में छह नक्सली मारे गये। मारे गये नक्सलियों में कुख्यात एरिया कमांडर बालचन भी शामिल।''[26] स्पष्ट है कि इन्हीं अखबार, रेडियो और टेलीविजन आदि जनसंचार के माध्यमों से प्रशासन की साख तथा पूँजी की सत्ता को और मजबूत बनाया जा रहा है। समझ मे नहीं आता कि क्या जनसंचार माध्यमों का यही काम है? क्या उनका दायित्व ये नहीं है कि वह अन्याय को चुनौती देकर न्याय के पक्ष में खड़े हो सकें?

इस उपन्यास में असुरों की मिटते जाने की कथा तो है ही साथ में विश्व की अन्य जातियों के मिटते जाने का भी प्रसंग है। आदिवासियों का शोषण, दमन और विनाश सिर्फ भारत में ही नहीं हुआ है बल्कि पूरी दुनिया के देशों, महादेशों में भी हुआ है। दक्षिण अमेरिका और अफ्रीका के विभिन्न देशों में उत्तरी अमेरिका में भी। उपन्यासकार ये सब कुछ जानता है। इसीलिए तो भारत के असुरों की विनाश लीला को देखते हुए और उसके बारे में सोचते हुए उसे याद आता है – ''बरबस प्राचीन अमेरिका के इंका, माया, एज्टैक और सैकड़ों अन्य रेड इंडियंस याद आये। इसी तरह से खदेड़े जाने वाले, इसी तरह से मार दिये जाने वाले। असुरों की तरह ही उनकी भी चन्द संख्या ही बची थी। बदहाल जिन्दगी गुजारती, संस्कृतिविहीन, भाषाविहीन, साहित्यविहीन, धर्मविहीन। शायद मुख्यधारा पूरा निगल जाने में ही विश्वास करती है।''[27] इसके अतिरक्त उत्तरी अमेरिका में भी वहाँ के मूल निवासियों जैसे – रेडइंडियंस को योरोप के साम्राज्यवादियों ने कैसे-कैसे छल-बल, धोखाधड़ी, अत्याचार और सामूहिक जनसंहार के आधार पर समाप्त किया। इन सबके लगातार खत्म होने का ब्यौरा दिया है। असुर आदिवासी जैसे तमाम अन्य जातियों पर हो रहे अत्याचार, दमन, शोषण, सामूहिक जन-संहार से उनके लगातार संख्या में घटते जाने की त्रासदी की परिस्थितियों को यथाचित्र उकेरा गया है।

असुर समाज प्रकृति की पूजा करता है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास की एक पात्र कहती है – ''हमारे महादेव यह पहाड़ हैं। जो हमें पालता है। हमारी सरनामाई न केवल सखुआ गाछ में बल्कि सारी वनस्पतियों में समाई हैं। हम सारे जीवों से अपने गोत्र को जोड़ते हैं। छोटे जीवों कीट-पतंगों को भी अपने से अलग नहीं समझते। हमारे यहाँ 'अन्य' की अवधारणा ही नहीं है।''[28] वह अपने आस-पास की प्रकृति के विभिन्न रूपों से गहरी अन्तरंगता अनुभव करते हैं इसीलिए वह उनके गुणों को भी आत्मसात करता है। असुर लोगों के व्यक्तित्व में प्रकृति की चट्टानों की तरह दृढ़ता होती है, साथ ही उनके अन्दर नदी की तरह तरलता भी और हवा की तरह गतिशीलता भी। दूसरी तरफ मुख्यधारा का समाज है जो प्रकृति पर विजय पाने में और उसका चारों तरफ से दोहन करने में ही विश्वास रखता है। अफसोस कि प्रकृति का मूल रूप भी वहीं है जहाँ आदिवासी समुदाय रहते हैं। इसीलिए मुख्याधारा के लोग प्रकृति का दोहन करने के रास्ते में आदिवासियों को रोड़ा मानते हैं जिसके कारण उनका भी दमन, शोषण करके उनका खात्मा कर रहे हैं। ताकि प्रकृति पर केवल उनका ही एकछत्र अधिकार हो।

आजादी के बाद भारत की केन्द्रीय सरकारों ने अंग्रेजों से केवल सत्ता ही नहीं पायी बल्कि उसके साथ शासन करने का ढंग भी सीखा, इसीलिए आदिवासियों का शोषण और दमन आज भी हो रहा है। भूमण्डलीकरण के दौर में आदिवासियों के अत्याचार, दमन, शोषण और उनके विनाश के लिए पूँजीवादी ताकतों और प्रशासन के पास कई मोहरे हैं। जिनसे भोला-भाला आदिवासी गुजरते समय कहीं-न-कहीं फंस ही जाता है। इसीलिए **मैनेजर पाण्डेय** ने अपने लेख में लिखा है – ''वर्तमान समय में भारत के आदिवासी

समुदायों के समाने एक खतरा उन्मूलन का है और दूसरा अनुकूल का। उन्मूलन का अर्थ है अस्तित्व का अन्त तो अनुकूलन का अर्थ है अपनी अस्मिता को खोकर दूसरे धर्मों, संस्कृतियों और समाजों में विलय। उन्मूलन का खतरा सत्ता की और से है तो अनुकूलन का धर्मों की और से।''[29] आदिवासियों पर ईसाई धर्म को लादने की कोशिश दक्षिणी अमेरिका में भी हुई थी। इसके साथ ही उत्तरी अमेरिका और अफ्रीका में भी हुई थी। भारत में उपनिवेशवाद के समय में अंग्रेजों ने आदिवासियों के विरोध को शान्त करने के लिए ईसाई मिशनरियों को बुलाया था। सन् 1845 के लगभग योरोप के अनेक देशों से ईसाई मिशनरी झारखंड जैसे प्रदेश में आये और आदिवासियों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर उनको अंग्रेजी राज के लिए अनुरूप बनाने या परिवर्तित करने लगे। दूसरी तरफ स्वतंत्रता के बाद हिंदुत्ववादी शक्तियाँ भी आदिवासियों को हिन्दू धर्म में दीक्षित कर उन्हें अपने धर्म में शामिल करने का प्रयास करने लगीं। इसी तरह के एक प्रयास की पोल 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में खोली गई है तथा उपन्यासकार ने हिन्दूवादी छली जामा पहने शिवदास बाबा के द्वारा असुरों के छले जाने की त्रासदी का यथार्थ चित्रिण किया है। छली बाबा शिवदास जो एक शिवभक्त बनकर असुरों की सांस्कृतिक स्वायत्तता में हस्तक्षेप करता है और नए तरह का फंडा देता है कि काले जानवरों से परहेज करना है। मांस-मछली से दूर रहना है। बाबा के कंठीधारण आन्दोलन के बाद – 'कोई भी कंठीधारी भगत अब अपने घर में काले रंग की गाय-गरू, मुर्गी, सूअर कुछ भी रखने को तैयार नहीं था।'[30] सांस्कृतिक राष्ट्रवादी शक्तियों का प्रतिनिधि लंगटा बाबा शिवदास प्रत्येक उन कुकर्मों से जुड़ा है जो ऐसे बाबाओं के प्रति मन को घृणा से भर देते हैं। विडम्बना यह है कि लालाचन जैसे स्वभाव के सहज विश्वासी असुर ऐसे बाबाओं के जाल में फंस जाते हैं।

'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में उपन्यासकार रणेन्द्र ने कीकट क्षेत्र में रहने वाले असुर समुदाय को केन्द्र में रखकर लिखा है। इस उपन्यास में उन्होंने असुर समुदाय के जीवन के पक्षों को छोड़कर, उनका जीवन-यापन, इतिहास उनके बीच पूँजीपतियों द्वारा चलाये जा रहे गरीबी, भुखमरी, अभाव, शोषण, दमन, अत्याचार के चक्र को बेनकाब किया है। उपन्यासकार ने एक तरफ तो असुर समाज में स्त्री-पुरुष के बीच के संबंध, उनका निश्छल स्वभाव, उनका रहन-सहन, प्रकृति से उनकी अन्तरंगता, उनकी सभ्यता-संस्कृति और उनके कभी न खत्म होने वाले संघर्ष को बहुत ही बेबाकी से चित्रित किया है तो दूसरी तरफ प्रशासन और ग्लोबल गाँव के देवताओं के गठजोड़ द्वारा किस तरह से आदिवासी जन को छल-कपट से लूटा जा रहा है, उनकी बेटियों को फुसलाकर दिल्ली, कलकत्ता आदि शहरों में ले जाकर उन्हें बेचा जा रहा है, उनके जल, जंगल और जमीन को छीनकर किस तरह से उन्हें विस्थापित किया जा रहा है, विकास के नाम पर किस तरह से उनके विनाश के लिए नीतियाँ बनाई जा रही हैं ये सारी समस्याएं विस्तृत रूप में चित्रित हुई हैं। अन्तत: कहा जा सकता है कि उपन्यासकार रणेन्द्र असुर समुदाय के जीवन की त्रासदीपूर्ण परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण करने में सफल हो पाये हैं।

कहानियां

रणेन्द्र का कहानी संग्रह **'रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ'** में कुल सात कहानियाँ संग्रहीत हैं। जिनमें मूल रूप से तीन कहानियाँ ही झारखंड के आदिवासी जीवन और उनकी समस्याओं पर केन्द्रित हैं। जिनके नाम – 'रात बाकी', 'वह बस धूल थी' और 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ' हैं। जिसमें से 'रात बाकी' कहानी आदिवासियों के चेरो समुदाय, 'वह बस धूल थी' कहानी उराँव समुदाय तथा 'चम्पा गाछ, और अजगर तालियाँ' कहानी खड़िया समुदाय पर केन्द्रित है।

इन कहानियों में आदिवासियों का जन-जीवन, प्रशासन और पूँजीपतियों द्वारा भूमिअधिग्रहण, विस्थापन, सामन्ती व जातीय अत्याचार, प्रशासनिक लूट और भ्रष्टाचार, आदिवासी स्त्रियों का मुख्यधारा व उन्हीं के समाज के पूँजीपतियों, प्रशासन द्वारा शोषण, उनका संघर्ष, मुख्यधारा के प्रशासन द्वारा उनके अस्तित्व पर हमला आदि का चित्रण किया गया है। प्रमुखत: ये कहानियाँ आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन को विकास के नाम पर अपने कब्जा करने वालों के षड्यंत्र का पोल खोलती है किन्तु अनेक प्रंसगों में राज्य तथा प्रशासन के खोखले चरित्र को तथा सामंती व्यवस्था व शोषकों के प्रति उसकी पक्षधरता को भी दर्शाती हैं। भूदान आन्दोलन के दौरान भू-स्वामियों व जमीदारों ने जिस चालाकी के चलते अपनी जमीन बचाई उसके रहस्यमय भेद को प्रशासनिक अनुभवों के बल पर रणेन्द्र ने बड़ी सटीकता से उजागर किया है। विभिन्न मोर्चा तथा संग्राम समितियां बनाकर ये आदिवासी जनजातियाँ अपने विस्थापन के विरोध में आन्दोलनरत हैं। फिर भी निश्छल आदिवासियों को प्रशासन और पूँजीपति लोग आसानी से धोखा देकर उनके अस्तित्व को मिटाने में सफल होते जा रहे हैं। आदिवासियों की इन सारी समस्याओं के बारे में कथाकार रणेन्द्र नजदीकी से जानते हैं तभी तो इतनी बारीकी से उनकी वास्तविकता को कहानियों में उजागर कर पाये है।

दूसरी तरफ कथाकार ने आदिवासी समाज की स्त्रियों पर मुख्यधारा के समाज के पुरुषों द्वारा होने वाले शोषण को भी दिखाया है। आदिवासी समाज की स्त्रियों का हर तरफ से शोषण किया जा रहा है। एक तो उनके समाज में शिक्षा का अभाव है दूसरे वह अपने निश्छल, मासूम व सहज स्वभाव के चलते वे लम्पट व पूँजीपतियों के बहकावे में जल्दी से आ जाती हैं। जिसके कारण उनको दूर महानगरों में ले जाकर बेच दिया जाता है। जहां उनका मनमाना शोषण किया जाता है। **रणेन्द्र** ने 'रात बाकी' कहानी में लिखा है – ''साहब अमला-फेला के साथ शाम होते शिकार खेलते। प्रभारी डॉक्टर, सी.डी.पी.ओ., वयस्क शिक्षा पदाधिकारी, उप-प्रमुख, एक-दो चमचों का पूरा शिकारी दल। शिकारगाह अस्पताल परिसर का खाली प्रभारी आवास। जहाँ नर्सें, आँगनबाड़ी सेविकाएँ, ठीकेदारों द्वारा सप्लाई की गई लड़कियाँ शिकार थीं।''[31] मुख्यधारा के पुरुषों द्वारा स्त्रियों के दैहिक शोषण की पोल खोली है। जिसमें प्रशासनिक पदाधिकारी उनके चमचे पूँजीपति लोग

व्याप्त हैं। इसी तरह से 'चम्पा गाछ अजगर और तालियाँ' कहानी में मुख्यधारा की प्रशासनिक पुलिस को जब रवीन्द्र और उसके साथी खोजने से नहीं मिलते हैं तो आदिवासी समाज की स्त्रियों को उनके घर से उठाकर ले जाते हैं और उनका बलात्कार करते हैं। इसी कहानी में एक पात्र सरस्वती खड़िया है जो अपने समाज की उन्नति के लिए अपने भाई और उसके साथियों के साथ मिलकर काम कर रही है। लाठी सिंह दरोगा को यह मंजूर नहीं इसलिए वह उसके सारे साथियों का इन्काउंटर कर उसे उठा ले जाता है और थाने के सारे लोगों के साथ मिलकर उसका सामूहिक बलात्कार करता है। **रणेन्द्र** लिखते हैं – ''सरस्वती के शरीर को नाली बना दिया। लाठी सिंह कब उठा? खिसका? कौन ध्यान दे? वहाँ तो सारा थाना लाइन लगाए खड़ा।''[32] इस तरह से मुख्यधारा के लोग व प्रशासन तो आदिवासी स्त्रियों का शोषण करते ही है। साथ में आदिवासी समाज के पूँजीपति व प्रशासनिक लोग भी अपने समाज की स्त्रियों का शोषण कर रहे हैं। 'वह बस धूल थी' कहानी का बी.डी.ओ. अनिल लकड़ा इसका जीता-जागता उदाहरण है। रणेन्द्र की इन कहानियों में वर्तमान समय में आदिवासी समाज की स्त्रियों के साथ किस तरह से शोषण किया जा रहा है इसका यथार्थपरक चित्रण किया गया है जो प्रत्येक आदिवासी समाज में देखने को मिलता है।

कथाकार रणेन्द्र ने आदिवासी समाज में दूसरे प्रकार की स्त्रियों का भी जिक्र किया है। जिसमें पुष्पा सिंह चेरो जैसी पढ़ी लिखी एवं बहादुर स्त्रियाँ हैं। 'रात बाकी' कहानी के बीच में ही कथाकार पुष्पा चेरो का परिचय देते हुए बताता है कि उससे छेड़छाड़ करने वाले सवर्ण लड़के आये दिन पिटते रहते थे। वह किसी से भी नहीं डरती थी। ऐसे ही एक प्रसंग का जिक्र भी किया गया है। रणवीर सिंह अपने चमचों के साथ पुष्पा को अपनी हवस का शिकार बनाने के लिए दुर्गावती नदी के पास झाड़ी के पीछे इन्तजार कर रहा था लेकिन वहाँ पुष्पा के आते ही सब कुछ उल्टा-पुल्टा हो जाता है – ''काहे को डरती। टाँगों में हाथ डालकर पटक दिया,...दर्जनों दलित लड़कियों की देह नोचने वाला आज बुरी तरह फँस गया था। तीनों लड़कियों को जल्दी भी थी। एक पत्थर उसके पोथे के नीचे रखा दूसरे पत्थर से कुचल दिया और जंगल में उतर गईं। रणवीर कटते सूअर की तरह गोंगियाता रह गया।''[33] मुख्यधारा के समाज के पुरुषों द्वारा आदिवासी स्त्री की इज्जत से खेलना तो आम बात है लेकन यहाँ पर पुष्पा चेरो ने जो विरेध किया वह सराहनीय है। इसीलिए तो लड़कियों का शिकार करने वाला शिकारी खुद अपने द्वारा बिछाये गये जाल में फंस जाता है। यह घटना मुख्यधारा के समाज के पुरुषों द्वारा आदिवासी समाज की स्त्रियों के प्रति किये गये जुल्मो-शितम की वास्तविक दास्तां है ही लेकिन साथ में यह भी स्पष्ट है कि आज भी आदिवासी स्त्रियों में विरोध करने की हिम्मत व संघर्ष करने का जज्बा मरा नहीं जिंदा है।

'रात बाकी' कहानी में भी कथाकार रणेन्द्र ने आदिवासियों के बारे में मुख्यधारा के लोगों के द्वारा प्रचारित-प्रसारित की गई दानवीय छवि को तोड़ते हुए यथार्थ को उजागर किया है। मुख्यधारा के लोगों ने आदिवासियों के बारे में जो छवि गढ़ी है वह वास्तव में बहुत ही डरावनी, खूँखार, नरभक्षी असभ्य, भयानक,

मायावी और विचित्र जैसी है। ये यथार्थ से मिथकीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है। यह यथार्थ से मिथकीकरण की प्रक्रिया तो वैदिक काल से लेकर अब तक तक चली आ रही है। लेकिन कथाकार रणेन्द्र आदिवासियों के बारे में गढ़ी गई इस दानवीकरण की तस्वीर को तोड़कर उनके निश्छल स्वभाव और उनकी मनुष्यता के यथार्थ को उजागर किया है। इसके साथ ही मुख्यधारा के समाज को यह बताने की कोशिश की है कि आदिवासी भी इंसान हैं, उनके अन्दर भी मानवीय गुण होते हैं।

कथाकार रणेन्द्र ने 'रात बाकी' कहानी में कैमूर के अन्दरूनी अंचल चैनपुर के परिदृश्य को केन्द्र बनाया है। चैनपुर अंचल अपने दायरे में आदिवासियों, जमीदारों, किसानों, मजदूरों, सवर्णों, पिछड़ी तथा निम्न जातियों को समेटे हुए है। इस कहानी के अन्तर्गत रणेन्द्र ने आदिवासियों की फाजिल जमीनों पर भूमिपतियों का कब्जे तथा प्रशासनिक महकमों में उनकी पहुँच के चलते जमीनें भूमिहीनों को आज तक मुहैय्या नहीं होने की रणनीति को उजागर किया है। इसी के साथ ही बड़े-बड़े बांध व जलाशय परियोजनाओं के कारण सैकड़ों गाँवों को उजाड़ा जा रहा है, उन्हें उनकी ही जमीनों और निवास स्थलों से महरूम कर विस्थापित किया जा रहा है। वे लोग जंगलों में आज भी अपने हकों, अधिकारों को लेकर संघर्षरत हैं। आदिवासियों के तेरह गाँव दुर्गावती बांध परियोजना के चलते डूब के दायरे में पड़ रहे थे। इस बांध के कारण चेरो जनजाति ने अपने निवास स्थान के लिए आस-पास के ही प्रखंडों में पुनर्वास हेतु भूमि उपलब्ध कराने की मांग की। जिसके चलते प्रशासनिक लोगों के द्वारा उनको झूठा आस्वासन और धोखा भी दिया जाता है। प्रशासनिक लोगों ने उनके नाम पर अपने ही उल्लू सीधे किये। जिसके बारे में रणेन्द्र ने बड़ी ही बेबाकी से एक पात्र (नरेन्द्र) के माध्यम से पोल खोली है। वह कहता है – ''तेरह आदिवासी गाँवों के हजार परिवारों का पुनर्वास, इतने-इतने एंगिल से देखा जाएगा, यह मैने सोचा न था। ए.सी. साहब की बात सच थी, तो ए.एस.पी. सिद्धार्थ शाही को आपरेशन ब्लैक कोबरा से अपना नाम हटाना था। इसीलिए उनकी मिसेज इस मसले में इंटरेस्ट ले रही थीं। डी.एम. को अपनी किताब लिखनी थी शायद वे भी सेंट्रल डेपुटेशन के चक्कर में थे। जीवेश-ऋषभ के लिए यह एक प्रोजेक्ट भर था। डी.डी.सी. साहब को चार-छह महीने में ट्रांस्फर की आदत पड़ी हुई थी...भिड़ जाओ नरेन्द्र भाई! इसी मूवमेंट के बल पर एम.पी. चुनाव लड़ लूंगा।''[34] इस तरह से प्रशासनिक पदाधिकारी लोग आदिवासी समाज के लोगों को धोखे के साथ ही लूट और भ्रष्टाचार के कारण उनकी जान की भी परवाह नहीं करते। इन्हें तो किसी तरह से उनके जल, जमीन और जंगल पर अपना अधिकार चाहिए, भले ही आदिवासियों का अस्तित्व बचे या फिर पूरी तरह से खत्म हो जाए।

इसी तरह से 'वह बस धूल थी' कहानी में आदिवासी समाज का ही प्रशासनिक पदाधिकारी बी.डी.ओ. अनिल लकड़ा अपने ही समाज की उन्नति नहीं करना चाहता। इसीलिए नवाटोली में अट्ठाइस लाख का डैम बनाने की स्वीकृति होने के बावजूद उसे कागजाद में बदलकर रामपुरहाट के नाले के लिए कर

देता है। उसे कमीशन चाहिए और अगर नवाटोली में डैम बनता तो उसे कमीशन नहीं मिलता। कैसी विडम्बना है कि अपने कमीशन के लिए वह पूरी उराँव जनजाति के अस्तित्व की परवाह ही नहीं करता है।

कथाकार रणेन्द्र ने आदिवासी जीवन में व्याप्त अनेकों गोत्रों की तरफ भी संकेत किया है। आदिवासी समाज में गोत्र का नाम प्राय: पशु-पक्षियों तथा प्रकृति के नाम पर होते हैं। आदिवासी समाज में पशु-पक्षियों और प्रकृति को अपना पूर्वज व देवता माना जाता है तथा उनकी पूजा भी की जाती है। 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ' कहानी में लेखक ने लिखा भी है – ''बागे यानी हिरण, उनका गोत्र था। पुरनापानी में सारे खड़िया लोग इसी गोत्र के थे। हिरण से ही उनके वंश की शुरूआत हुई। वह उनके लिए पवित्र और पूजनीय था। आदिवासियों ने सारे पशु-पक्षियों, सारी वनस्पतियों को अपना पूर्वज मान रखा था। यह एक बहुत ही खूबसूरत एहसास था। प्रकृति के साथ जुड़ाव का खूबसूरत फलसफा।''[35] स्पष्ट है कि आदिवासी प्रकृति को ही अपना सबकुछ मानते हैं। इसीलिए प्रकृति को अपने प्राणों पर खेलकर उसकी रक्षा करते हैं। वहीं मुख्यधारा के लोग प्रकृति की रक्षा करना नहीं बल्कि उसका दोहन करना ही जानते हैं।

आदिवासी समाज में अखड़ा का बहुत महत्व होता है। आदिवासी समाज में अखड़ा सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था होती है। यह गाँव के बीच में स्थित नाच-मैदान तथा पंचायत है। खाली जगह, बगल-किनारे सिर उठाये वृक्ष और कायदे से यहाँ-वहाँ रखे पत्थर-खंड, जो बैठने के काम आता है ये नृत्य-स्थान को आकर्षक और मनमोहक बना देते हैं। सामान्यत: प्रतिदिन रात में यहाँ घंटे-दो घंटे के लिए नाच-गान होता है। पर्व-त्योहार या महत्वपूर्ण धार्मिक अवसरों पर दिन भर नाच-गान चलता है। प्रत्येक बृहस्पतिवार या फिर प्रत्येक रात में नाच-गाने के बाद गाँव का मुखिया और गाँव के बैगा एवं बुजुर्ग लोग मिल-बैठकर गाँव-जवार की समस्याओं को सुलझाते हैं। इसमें आदिवासी समाज के पुरुष ही भाग लेते हैं। स्त्रियाँ इसमें भाग नहीं लेतीं। वैसे कथाकार ने आदिवासियों के इस सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था के बारे में कहानी व उपन्यास में जगह दी है। वे **'वह बस धूल थी'** कहानी में लिखते हैं – ''अखड़ा में बृहस्पतिवार को विचार हो रहा था। सोमा ने भी अपने अंचल वाली झील के मंजर दिखाए। उसके सतरंगी सपनों के रंगों से सबके चेहरे चमक उठे।''[36] यहाँ पर रणेन्द्र आदिवासी समाज के यथार्थ को बारीकी से पकड़ने में चूकते नजर आते हैं। यह सही है कि आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति मुख्यधारा के समाज की स्त्रियों से कुछ हद तक बेहतर है वे निजी जीवन से संबंधित निर्णय ले सकती हैं लेकिन अभी उन्हें इतनी स्वतंत्रा नहीं मिली है कि वे अखड़ा में बैठकर सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक मुद्दों पर अपना निर्णय दे सकें। ऐसी स्थिति के कई कारण हो सकते हैं चाहे वह स्थिति अंधविश्वास व आदिवासी समाज में बाहरी समाज के कुप्रभाव के चलते स्त्री को दोयम दर्जे का स्थान देने के कारण है। रणेन्द्र ने यहाँ पर स्त्री की मजबूत, संघर्षशील और नेतृत्वकारी छवि गढ़ने के कारण यह भूल गये हैं कि उनका दायित्व आदिवासी समाज की वास्तविकता से परिचय कराना है, समाज में उनके

बारे में प्रचारित मिथ से पर्दा हटाना है। शायद इसीलिए इस बात को कल्पना के माध्यम से बढ़ा-चढ़ाकर पाठकों के समाने परोसा है।

कथाकार रणेन्द्र ने 'वह बस धूल थी' कहानी में आदिवासी जन-जीवन की एक दूसरी समस्या की तरफ संकेत किया है, जिसके कारण आदिवासी समाज बहुत सारी समस्याओं से जूझता है। वह समस्या है उनके विवाह की वैवाहिक प्रक्रिया अवैधानिक ठहरा देना जिसके चलते वह जीवन में अपनी ही चीजों से हाथ धो बैठते हैं। उनको उनकी ही सामान का हकदार नहीं माना जाता है क्योंकि विवाह को वैध बनाने के लिए कानूनी तौर पर रजिस्ट्रेशन कराना पड़ता है। यह नियम सरकार ने सारे समाज में लागू किया है लेकिन आज भी आदिवासी समाज में यह प्रचलन में नहीं है। इसलिए वे रजिस्ट्रेशन नहीं कराते हैं और अंत में उन्हें बहुत सारी समस्याओं से जूझना पड़ता है। 'वह बस धूल थी' कहानी में एक आदिवासी लड़की (सोमा कुजूर) की शादी एक गैरआदिवासी (सोमनाथ झा जो इंजीनियर है) के साथ होती है। कुछ दिन के बाद प्रशासन द्वारा सोमनाथ की हत्या करा दी जाती है। मृतक के उत्तराधिकारी को सरकार की तरफ से नौकरी और मुआवजा मिलने के लिए सोमा भाग-दौड़ कर रही थी। तब तक सोमनाथ का दलाल पिता रामाशीष झा कोर्ट से आर्डर लाकर यह साबित कर देता है कि सोमा और सोमनाथ का विवाह ही वैध नहीं तो वह उसके सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी कैसे? **रणेन्द्र** ने लिखा है – ''लेकिन शाम होते-होते बूढ़ा झा कोर्ट का आर्डर ले आया। चूँकि विवाह ही वैध नहीं तो सोमा कुजूर मृतक की उत्तराधिकारिणी कैसे? आदिवासी विवाह प्रथाओं को अभी तक कानूनी मान्यताएँ प्राप्त नहीं। सप्तपदी का कोई प्रमाण नहीं। अत: मुआवजा और नौकरी वैध उत्तराधिकारी भाई ओमनाथ को।''[37] मुख्यधारा के लोग वर्तमान समय में आदिवासी जन को इस तरह भी ठग रहे हैं। हर तरफ से उनका हक-अधिकार छीनकर उनको गहरी खायीं में धकेलते जा रहे हैं।

आदिवासी समाज की आर्थिक-व्यवस्था बहुत ही कमजोर है। आदिवासी समाज का मुख्य आर्थिक स्रोत उनके जल, जमीन और जंगल ही हैं। वर्तमान समय में आदिवासी समाज की आर्थिक-व्यवस्था के स्रोतों को प्रशासन और पूँजीपतियों ने अपने मुट्ठी में कर लिये हैं। उन पर अधिकार कुछ हद तक जमा चुकी है और कुछ को अभी भी हथियाने में लगी हुई है। परियोजनाओ, खदानों और कंपनियों ने मिलकर आदिवासियों को नाश करके छोड़ा है। कथाकार **रणेन्द्र** 'वह बस धूल थी' कहानी में लिखते हैं – ''पहाड़ी के ऊपर चौरस क्षेत्र पाट कहलाता था जिस पर बॉक्साइट के माइन्स थे। ओपन कास्ट माइन्स ने आस-पास मुरुम की टुँगरी खड़ी कर दी थी, जो वर्षा जल बहाव के साथ नीचे धनहर खेतों की उर्वरा खत्म कर रही थी। जंगल की कटाई अलग। पहले सड़े-गले जंगल के पत्ते बहकर खेतों में आते थे तब मिट्टी काली थी, ताकत से भरी हुई। कपास भी खूब होता। अब तो कपास स्वप्न हो गया और बुनकर जाति, चिकबड़ाईक उजड़ गई। और जाने क्या-क्या?''[38] यह बात आदिवासियों के आर्थिक स्रोत के खत्म किये जाने की तरफ संकेत कर ही रही है दूसरी तरफ यह भी संकेत कर रही है कि आदिवासी समाज में आर्थिक रूप से जो समुदाय (जैसे- चिक,

बड़ाईक आदि) निम्नवर्ग में आते हैं वह तो पूरी तरह से उजड़ने के कगार पर खड़े हैं। इसके साथ ही आदिवासी क्षेत्र में टाटा जैसी कंपनियों ने भी परम्परागत आर्थिक स्रोत को नुकसान पहुँचाया है। जिसका जिक्र 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ' कहानी में किया गया है। स्पष्टत: आदिवासी समाज के आर्थिक स्रोत का आये दिन परियोजनाओं, खदानों और कंपनियों के द्वारा दोहन किया जा रहा है, जिसको रणेन्द्र ने बड़ी सटीकता से उजागर किया है।

आज यह बात तथ्य और सत्य दोनों रूपों में हमारे सामने आ चुकी है कि हमारे देश की 'लोकतांत्रिक' सरकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हित के लिए येन-केन-प्रकारेण आदिवासियों का पूर्णत: सफाया कर देना चाहती है। दमन की बुलंदियाँ चढ़ती इस सरकार का महाशक्ति बनने का दिवास्वप्न पूरा हो न हो परन्तु इसे पूरा करने के लिए वह जल, जमीन, जंगल और जान की कीमत पर भी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की दलाली पूरी निष्ठा के साथ कर रही है। साथ ही यह भी चाहती है कि जल, जमीन और जंगल के असली हकदार उसका विरोध भी न करें। ये बात तो हमारे यहाँ की एक कहावत पर खरी उतरती जान पड़ती है कि 'सांप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे'। इसीलिए अगर आदिवासी समाज के लोग सरकार और पूँजीपतियों का विरोध करते हैं तो उनका नक्सली कहकर इन्काउंटर कर दिया जाता है। या तो फिर अपने चमचों से उनकी हत्या करा के नक्सवादियों के द्वारा की गई हत्या करार दे दी जाती है। आदिवासी जन-जीवन के ऊपर हो रहे इस तरह की त्रासदी का यथार्थ चित्रण रणेन्द्र की कहानियों में देखने को मिलता है। इसके साथ ही कथाकार ने अपनी कहानियों में आदिवासी समाज के प्रति मीडिया के रवैय्ये को भी उजागर किया है। आज की मीडिया पूरी तरीके से सरकार और पूँजीपतियों व कार्पोरेट घरानों के हाथों बिक चुकी है। इसलिए उससे ईमानदारी की बात करना बेईमानी-सा लगता है। आज की मीडिया अपने चैनल व अखबारों के सबसे ऊपर बड़े-बड़े पूँजीपतियों व कार्पोरेट लोगों को ही बिठाये हुए है, आम जनता और आदिवासी समाज का तो एक तरफ से सफाया कर चुकी है। आदिवासीयों के प्रति मीडिया के इस भ्रष्ट चरित्र को रणेन्द्र ने अपनी कहानियों में उजागर किया है। 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ' कहानी में प्रशासन के द्वारा रामेश्वर और उसके साथियों को नक्सली कह कर इन्काउंटर कर दिया जाता है तथा सरस्वती को उठाकर उसका सामूहिक बलात्कार करके उस पर 'पोटा' का इल्जाम लगा दिया जाता है। इस खबर को मीडिया इस तरह से परोसती है – ''इतनी भयावह तस्वीर कि दर्शकों की झुरझुरी छूट जाए। भोर का अखबार उलटे तो चाय का प्याला छलछला जाए। तेज चैनलों के संवाददाताओं की आवाज और बयान-बखान में छोटा बाबू से दस-बीस गुना ज्यादा भयावहता-ज्यादा सनसनी।''[39] इसी तरह से 'रात बाकी' और 'वह बस धूल थी' कहानियों में भी आदिवासी समाज जीवन की त्रासदी-दर-त्रासदी का यथार्थ वर्णन किया गया है।

आदिवासी समाज के लोग प्रशासन और पूँजीपतियों द्वारा किये जा रहे लूट, दमन और शोषण के डर से घर में छुप कर नहीं बैठते है, भले ही आदिवासियों की ताकत मुख्यधारा के प्रशासन और

पूँजीपतियों से कितनी भी कम व छोटी हो, भले ही वह संख्या में कितने कम हों, लेकिन वह संघर्ष करना नहीं छोड़ते। उनका संघर्ष हमें ग्लोबल गाँव के देवताओं और उनके दलालों के खिलाफ खड़े होने के लिए ललकारता है। रणेन्द्र की कहानियों में आदिवासी स्त्रियाँ इतने जुल्मो-सितम सहने के बाद भी चुप नहीं बैठतीं। वे आदिवासी समाज के प्रति किये जा रहे अन्याय को देखकर फिर से विद्रोह करने की तैयारी में जुट जाती हैं। इसीलिए 'चम्पा गाछ, अजगर और तालियाँ' कहानी की सरस्वती चम्पा गाछ में परिवर्तित हो जाती है – ''देखते-देखते सरस्वती एक छतनार गाछ में बदल गई। चम्पा फूल के घने गाछ में। अब उसकी टहनियों से हजार-लाख धनुष बनने थे। हजार-लाख माँदर। इन्हीं माँदरों पर युद्धनाद बजना था...।''[40] इस तरह से आज आदिवासी समाज अपने हक-हकूक के लिए एक होकर शोषकों के प्रति कभी न खत्म होने वाला संघर्ष का बिगुल फूँक चुका है।

आदिवासी समाज पर आधारित कहानियों के पात्रों की बेबसी और विफलता जिस त्रासदी को रचते हैं, वह व्यवस्थाजन्य है। व्यवस्था की उस क्रूरता और उदासीनता से उस अयाचित यातना का जन्म होता है जिसकी गहरी छाप कहानियों को पढ़ने के बाद भी हमारे मन मस्तिष्क में छायी रहती है। साथ ही साथ ये कहानियाँ ऐसे इलाके से सिर उठाने की जुर्रत करती हैं जहाँ अशिक्षा, गरीबी और बदहाली के घने जंगलों में व्यवस्था के हिंसक नरभक्षी मनमाना शिकार किया करते हैं। इन कहानियों से गुजरते हुए कुछ बिन्दुओं को छोड़कर इनके सरोकारों की शिनाख्त कर कहा जा सकता है कि ये यथार्थ की आँच पर सीझती हुई जीवन की कहानियाँ हैं।

कविताएं

यह सच है कि आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में समकालीन हिन्दी कविता का दौर और उसका वैचारिक-सृजनात्मक दायरा बहुत बड़ा है। इस दौर की कविता विचारों के सृजनात्मक स्तर पर और यथार्थ के अंकन के मामले में अपने समय का कुशल नेतृत्व करती हैं। इसलिए बीते दो दशक की हिन्दी कविता के भूगोल में काफी परिवर्तन हुए हैं। यह कविता समाज के बदलते मिजाज और बदलते हुए स्वाद की कविता है। इस दौर की हिन्दी कविता अपनी संरचना में जीवन के विविध आयामों को समेटने के स्तर पर अपनी पूर्ववर्ती कविता से अधिक सफल होती हुई जान पड़ती है। इसलिए इस दौर की कविता जीवन की निर्जीविका में जी रहे समाज की कविता है। यह कविता समाज के वर्जित इलाकों की खोज की कविता है, समाज की संरचना से बाहर जी रहे उस संवेदनशील व्यक्ति की तलाश की कविता है जो उजड़े और विस्थापित होने के बावजूद भी नक्सलवादी कहलाने के लिए अभिशप्त है।

समकालीन हिन्दी पट्टी का यह समाज आदिवासी समाज है, जो हिन्दी कविता के केन्द्र में धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा है। लेखक रणेन्द्र का कविता संग्रह **'थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ'** इसी कड़ी का जीता-

जागता उदाहरण है। इस संग्रह में कुल 33 कविताएँ हैं जिनमें से कुछ कविताएँ तो आदिवासी जीवन और उनकी समस्याओं पर आधारित हैं और कुछ कविताओं में श्रमशील स्त्रियों को केन्द्र बनाया गया है। अब देखना यह है कि रणेन्द्र अपनी कविताओं में आदिवासी जीवन के यथार्थ को उजागर करने में कहाँ तक सफल हो पाये हैं?

आदिवासी समाज के लोगों की संस्कृति व्यापक है भले ही वह मुख्यधारा से अलग-थलग ही क्यों न रहते आये हों। वे अपना जीवन-यापन करने के लिए जीतोड़ मेहनत करते हैं। तथाकथित सभ्य समाज उनके द्वारा मेहनत के बल पर खड़े किये गये बड़े-बड़े भवनों में रहकर इतराते हैं। फिर भी ये लोग उन्हें विश्वव्यापी साजिशों में फाँसने के लिए एक बार भी नहीं सोचते और उनका शोषण करते रहते हैं। यह आदिवासी समाज फिर भी अपने श्रम से जीवन जीने का संघर्ष करता आया है। आदिवासी समाज के लोग जब श्रम करते हैं तो उनके गीत श्रम के पसीने की एक-एक बूंद से मिलकर हृदय से निकलते हैं। इन गीतों को वह अपने जीवन में जीते हैं। आदिवासी जीवन की इस श्रमशीलता को कवि **रणेन्द्र** ने अपनी कविता **'धनकटनी'** में बड़े ही मार्मिक ढंग से उकेरा है –

''गाँठ-गाँठ बोझ बाँध

बोह-बोह बहँगी से

गदबदी गोद में,

खलिहान की, फिर सूप में

पूस की झूँपती-सी धूप में

धान के मद-मादक रूप में

अंगनई अखरा में

झक झूमर होने दो''[41]

दूसरी तरफ अब जंगलों में काम करने वाली आदिवासी स्त्री को भी जल, जमीन और जंगल के छिन जाने पर अपने जीवन-यापन के लिए श्रम करने बाहर जाना पड़ता है। अब तो यह उनकी दिनचर्या में शामिल हो गया है। दिन भर अपनी फटेहाल स्थिति में काम करने के बाद शाम को जब वह घर वापस आती है तो उसके पास अपनी थकान मिटाने के लिए मुख्यधारा की तरह साधन नहीं हैं। उसके पास तो अपनी

थकान मिटाने के लिए सिर्फ बीड़ी-खैनी-हड़िया और एक दूसरे से बातों का रस ही है। इसके बारे में रणेन्द्र ने अपनी एक कविता **'दिनचर्या'** में बड़ी ही मार्मिकता से उजागर किया है –

''साँझ ढले सिमटा सूरज

चूल्हों की गरम गोद में,

अदहन की खदकन के साथ

लौटते बोझ थके भारी पाँव,

बीड़ी-खैनी-हड़िया संग

बतकही-बतरस-बतरंग''[42]

आदिवासियों के संस्कृति-समाज के विकास के नाम पर एक दशक पहले भले ही दो आदिवासी राज्यों का गठन हो गया हो, लेकिन वहाँ के लोग जीवन जीने की बुनियादी सुविधाओं से पूरी तरह से महरूम हैं। राज्यों के गठन के बाद भी वहाँ के हालात नहीं बदले हैं। वहाँ भूख के सावल आज तक कायम हैं। बेरोजगारी की रफ्तार और अधिक बढ़ी है। पेट की खातिर ही तो आदिवासियों को बीमारी के हालत में भी कमाने जाना पड़ता है। बीमारी और भूख की मार से आज पूरी आदिवासी जाति त्रस्त है। रणेन्द्र की कविताओं में इस दु:ख भरे जीवन की त्रासदी को दिखाया गया है। उनकी कविता पर मुकुल कुमार टिप्पणी करते हुए लिखते हैं – ''रणेन्द्र की कविताओं से गुजरना जैसे दु:खमय जीवन की स्मृतियों से गुजरना है। दु:ख जो हमें सालता है बारह, चालता है हमारे भविष्यत् के स्वप्नों तक को।''[43] सच-मुच ऐसा दु:ख हमारे भविष्य तक खबर लेता है। ये दु:खमय जीवन **रणेन्द्र** की कविता में इस प्रकार आया है –

''टी.बी. था उसे

और भूख ले गई भट्टा कमाने,

टूट ही गया

उम्र ही क्या थी बस चौबीस साल''[44]

इसी तरह से आदिवासी अपने जीविकोपार्जन के लिए अपनी जान को दाँव पर लगाकर खदानों में घुसता है। उसे पता है कि एक दिन उसकी इसी खदान के चलते ही मौत होगी। फिर भी उसे अपने जीवन-यापन के लिए हर रोज जीवन और मृत्य के बीच युद्ध करना पड़ता है लेकिन मुख्यधारा की प्रशासन के तरफ

से उसे कोई वीर बहादुर का खिताब नहीं दिया जाता, न उसके मरने पर तिरंगा, चक्र और न बिगुल ही बजाया जाता है। जबकि प्रशासन के द्वारा मुख्यधारा के लोगों को वीरतापूर्ण कार्य के लिए खिताब, तिरंगा, चक्र आदि से सम्मानित किया जाता है। कवि **रणेन्द्र** ने अपनी कविता **'युद्ध'** में बूधन बिरजिया जैसे अन्य लोगों के जीवन की इस विडम्बना को इस तरह से अभिव्यक्ति दी है –

''हमारा वीर बहादुर

जनरल-मार्शल

बूधन जवान

जानता है

किसी दिन

खदान धँसान से

देगा वह बलिदान

न बिगुल

न तिरंगा

न कोई चक्र

न सम्मान!

पर पूरे आन-बान से

मुरैठा बाँध

बेझिझक घुसता है

बन्द खनन-खोह में''[45]

गरीबी, भुखमरी, अभाव, अशिक्षा, अविकास और विस्थापन जैसी समस्याओं के तमाम सवालों को लेकर बूधन बिरजिया जैसे लोग मुख्यधारा के प्रशासान के पास जाते हैं तो मुख्यधारा का यह प्रशासन अपनी रौब में चूर उसको तरजीह ही नहीं देता है। आदिवासी समाज के रहने-खाने के पड़े लाले मुख्यधारा के प्रशासन के मन में बेचैनी नहीं भरती। इसके बरअक्स राजनेता, बुद्धिजीवी, और मीडिया के लिए

ऐश्वर्या राय जैसी फिल्म हिरोइनें ही महत्व रखती हैं। इसके साथ ही मुख्यधारा का प्रशासन और पूँजीपति लोग आदिवासी समाज के अस्तित्व को ही खत्म कर देना चाहते हैं। रणेन्द्र ने अपनी एक कविता 'बूधन बिरजिया और शहर' में इस परिस्थिति को सच्चाई से उकेरा है। वे लिखते हैं –

''सब धकियाना चाहते थे

बूधन बिरजिया को

नृ-विज्ञान के दीमक खाए पत्रों तक

दीमक हो रहा था शहर''[46]

आदिवासी समाज की हालत दिन-ब-दिन बहुत बदतर होती जा रही है। आदिवासी समाज के जल, जमीन और जंगल को छीनकर उस पर विकास के नाम पर परियोजनाएं, खदानें और कंपनियाँ लगाकर केवल आदिवासी समाज को ही नहीं उजाड़ा गया है बल्कि उसकी संस्कृति को भी उजाड़ा गया है। उनकी प्रत्येक जीवन-संस्कृति अखड़ा, धूमकुरिया घोटुल, सरना-मड़ई, माँदर-नगाड़ा, तीर-धनुष, गीत-नाच, सरहुल और यहाँ तक की उनकी बेटियाँ भी अब बाजार में बेची जा रही है। मुख्यधारा के लोग उनकी सभ्यता-संस्कृति की नीलामी कर रहे हैं। आदिवासी समाज की इस वास्तविकता को **रणेन्द्र** ने अपनी कविता **'अवसान बेला पर'** में इस तरह बयां किया है –

''हमारे अखड़ा-धूमकुरिया घोटुल

सरना-मड़ई-पथलगड़ी-मसना

माँदर-नगड़ा, तीर-धनुख

गीत-नाच, सरहुल, बेटियाँ

सभी बाजारू हुए

चाट के चटखोरे हुए''[47]

इसी कविता में कवि रणेन्द्र ने आगे लिखा है कि आदिवासी किस तरह से घर से बेघर कर दिये जाते हैं तथा बड़े-बड़े दलाल, पूँजीपति लोगों द्वारा उनकी बेटियों का अपहरण करके उन्हें बेच दिया जाता है। जिनके घर लौटने के पदचिह्नों को पूँजीपतियों और प्रशासन की भूख दिनों-दिन निगलती जा रही है। वे पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं –

''अपहृत होती बेटियाँ

घरों की ओर लौटते

नहीं दिखते जिनके पदचिह्न

मृग की अछोर भूख

निगलती जा रही है''[48]

आदिवासियों ने तो कभी सपने में भी यह नहीं सोचा था कि उनके साथ ऐसा होगा। वे तो उन्मुक्त प्रकृति की गोद में रहे हैं – प्रकृति की भाव-भंगिमाओं के साथ गाते-नाचते। इसी उन्मुक्तता के रहते अभावों भरी जिंदगी की भी उन्होंने परवाह नहीं की। समृद्ध प्राकृतिक परिवेश में सीमित आवश्यकताओं के साथ एक लंबी, विशुद्ध और सांस्कृतिक परंपरा रही है। जीवन का आधार रही यह प्राकृतिक संपदा, उनकी पुश्तैनी भौम और सांस्कृतिक धरोहर उनसे छीनी जा रही है, जिनके लिए वे कतई तैयार नहीं हैं। यह गंभीर संकट केवल आदिवासी वर्ग के सामने मुँह बाये खड़ा है। इस परिस्थिति को कवि **रणेन्द्र** ने इस तरह से उजागर किया है –

''पहरूओं ने नजरें इनायत कीं

चिह्नित हुए हम

खनन-भू-अर्जन के लिए

मुआवजे के क्रमांक

वन-कानूनों के लिए

शत्रु-समान।''[49]

आदिवासियों को समय की रफ्तार के साथ उन्हें पहाड़ों-जंगलों में खदेड़ा गया। फिर भी कोई बात नहीं, हजारों सालों से प्रकृति से अटूट रिश्ता जोड़े रहे। उसे प्रगाढ़ करते चले गये। अब वहां से भी किसी न किसी योजना के तहत खदेड़ने की खतरनाक साजिशें बनायी जा रही हैं। उन्हें विकास के रास्ते का पत्थर समझा जा रहा है। उन्हें जल, जमीन और जंगल से लाखों की तादाद में बिना किसी पूर्व सूचना, बिना पर्याप्त विकल्प के इन आदिवासियों को विस्थापित किया जा रहा है। आदिवासियों को उनकी पुश्तैनी जमीनों से और जीवन में रची-बसी प्रकृति से इस कदर खदेड़ा जाए – यह कहाँ का न्याय है? । अगर आदिवासी इसका विरोध करें तो उनको राष्ट्रीय विकास विरोधी करार कर दिया जाता है साथ ही उनके इस विरोधपूर्ण संघर्ष को

बीच में ही कुचल दिया जाता है। मुख्यधारा के लोगों द्वारा विकास के नाम पर उनका विनाश किया जा रहा है। आदिवासियों का सबकुछ छीनकर, उनको खदेड़कर वहाँ बड़े-बड़े पूँजीपति लोग अपने मुनाफे के लिए कंपनियाँ लगा रहे हैं। उन कंपनियों से निकलता धुँआ पूरे आदिवासी समुदाय को निगलता जा रहा है। कवि रणेन्द्र ने ऐसी परिस्थिति के बारे में लिखते हैं –

''जंगलों के ऊपर छाया

यह काला विषैला धुँआ

धुँआ नहीं

बादशाह सलामत की काया की

छाया भर है

बेचैन हैं हुजूर बहादुर

कुछ ढूँढ रहे हैं

चप्पे-चप्पे पर है

उनकी नजर''[50]

बड़े-बड़े पूँजीपतियों और प्रशासन के द्वारा किये जा रहे अत्याचार, शोषण, जनसंहार और विस्थापन से आदिवासी डरते नहीं हैं। आदिवासी समुदायों के अन्दर एकता की ताकत है। तभी तो बिरसा मुंडा जैसे नायक वहाँ पैदा हुए और बिरसा मुंडा से लेकर आज तक वे इन अत्याचारी ताकतों के खिलाफ लड़ते चले आ रहे हैं। उनकी स्त्रियाँ 'अपने प्रतिरोध की जड़ों को दे रही हैं भरी-भरी गोद'। जिन आदिवासी स्त्रियों ने बिरसा मुंडा जैसै नायक को जन्म दिया हो वह किसी नायक का इन्तजार नहीं करतीं –

''कि नायकों को जन्म देने वाली माताएँ

प्रतीक्षा नहीं करतीं किसी नायक की

नरमेधीय यज्ञ के अश्व को

थाम लेंगी

अबकी बार ये वनवासिनी माँ''[51]

अत: स्पष्ट है कि रणेन्द्र ने अपनी कविताओं में आदिवासी जीवन की संस्कृति, उनके सुख-दुख, उनकी समस्याओं को बेबाकी से उकेरा है। उनकी कविताओं में आदिवासी जीवन पर किये जा रहे अत्याचार, शोषण, लूट, भ्रष्टाचार, विस्थापन जैसी दर्दनाक समस्याओं को दिखाया गया है। वर्तमान समय में यही आदिवासी जीवन का यथार्थ है। अंतत: कहा जा सकता है कि रणेन्द्र अपनी कविताओं में आदिवासी जीवन के यथार्थ को उजागर करने में बहुत हद तक सफल हुए हैं।

दूसरी तरफ रणेन्द्र के अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। उनमें से कुछ लेख सामाजिक, राजनीतिक मुद्दों पर हैं, कुछ स्त्रियों के सवालों पर हैं और कुछ आदिवासी समाज के सवालों पर हैं। आदिवासी समाज पर केन्दित उनका एक लेख 'आदिवासी : मिथ और यथार्थ' है। जो मूल रूप से झारखंड के आदिवासियों को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इस लेख में आदिवासी समाज के यथार्थ को सामने लाया गया है। इसके साथ ही यह बताया गया है कि मुख्यधारा में आदिवासी समाज के स्वास्थ्य को लेकर, स्त्रियों की स्वतंत्रता को लेकर, उनके धर्म को लेकर जो मिथ बने हुए हैं उसकी वास्तविकता क्या है?

निष्कर्षत: रणेन्द्र ने अपने साहित्य में विभिन्न आदिवासी समुदाय के जीवन के विभिन्न पक्षों को केन्द्र में रखा है। एक ओर जहाँ वे आदिवासी जीवन, मुख्यधारा के समाज में बने उनके मिथ, उनका प्रकृति से अंतरंग लगाव, उनकी सभ्यता-संस्कृति, उनके नैसर्गिक अधिकारों, उनके अस्मिता व अस्तित्व के खतरों, उनके जमीनों को प्रशासन और ग्लोबल गाँव के देवताओं द्वारा अधिग्रहण तथा उनके दलालों, सूदखोरों, महाजनों, के द्वारा चली गई साजिशों, प्रशासन के खोखले चरित्र तथा सामंती व्यवस्था व शोषकों के प्रति उसकी पक्षधरता, विस्थापन, भूमण्डलीकरण के चलते उनके विनाश को यथार्थपूर्ण ढंग से उजागर किया है। वहीं दूसरी ओर वे आदिवासी समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक अखड़ा जैसी संस्था के महत्व, उसके सहभागियों और उनके समाज में सहिया (दोस्त) चुनने की प्रथा को यथार्थपूर्ण उजागर करने में चूकते दिखाई देते हैं। फिर भी रणेन्द्र प्रशासनिक पदाधिकारी होने के बावजूद उन्होंने आदिवासी जीवन और उनकी समस्याओं का बारीकी से अध्ययन कर चित्रण किया है। इसके साथ ही आदिवासियों के ऊपर बड़े-बड़े कार्पोरेट घराने और प्रशासनिक पदाधिकारियों के द्वारा की जा रही नित-नई साजिशों की पोल खोलने का साहस किया है यह कम बड़ी बात नहीं है। अत: कहा जा सकता है कि रणेन्द्र झारखंड के आदिवासी समुदाय के जीवन के विभिन्न पक्षों से नकली जामा हटाकर उसके यथार्थ रूप को प्रस्तुत करने में बहुत हद तक सफल होते दिखाई देते हैं।

संदर्भ-सूची

1. *मुंशी प्रेमचंद* – कुछ विचार, पृष्ठ संख्या – 49
2. *हजारी प्रसाद द्विवेदी* – हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास, पृष्ठ संख्या – 225
3. *डॉ. (कु.) नूरजहाँ* - हिन्दी कहानी में यथार्थवाद, (कोटेड – नंददुलारे वाजपेयी), पृष्ठ संख्या – 5
4. *सुवास कुमार* - गल्प का यथार्थ कथालोचन के आयाम, पृष्ठ संख्या – 14
5. *रणेन्द्र* - ग्लोबल गाँव के देवता, पृष्ठ संख्या – 11-12
6. वही, पृष्ठ संख्या – 14
7. वही, पृष्ठ संख्या – 14
8. वही, पृष्ठ संख्या – 19
9. वही, पृष्ठ संख्या – 22
10. वही, पृष्ठ संख्या – 28-29
11. वही, पृष्ठ संख्या – 84-85
12. वही, पृष्ठ संख्या – 23
13. वही, पृष्ठ संख्या – 76
14. वही, पृष्ठ संख्या – 77
15. वही, पृष्ठ संख्या – 26
16. वही, पृष्ठ संख्या – 78
17. वही, पृष्ठ संख्या – 74-75
18. वही, पृष्ठ संख्या – 95
19. वही, पृष्ठ संख्या – 30
20. वही, पृष्ठ संख्या – 38
21. वही, पृष्ठ संख्या – 69
22. वही, पृष्ठ संख्या – इसे देखना है
23. वही, पृष्ठ संख्या – 92
24. *सं.–रवीन्द्र कालिया* – नया ज्ञानोदय (पत्रिका) मार्च 2010, अंक 85, पृष्ठ संख्या – 15
25. वही, पृष्ठ संख्या – 15
26. *रणेन्द्र* - ग्लोबल गाँव के देवता, पृष्ठ संख्या – 88
27. वही, पृष्ठ संख्या – 33
28. वही, पृष्ठ संख्या – 72
29. *सं.-रवीन्द्र कालिया* – नया ज्ञानोदय (पत्रिका) मार्च 2010, अंक 85, पृष्ठ संख्या – 15
30. *रणेन्द्र* - ग्लोबल गाँव के देवता, पृष्ठ संख्या – 57
31. *रणेन्द्र* – रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ, पृष्ठ संख्या – 9
32. वही, पृष्ठ संख्या – 84
33. वही, पृष्ठ संख्या – 11

34. वही, पृष्ठ संख्या – 18
35. वही, पृष्ठ संख्या – 71
36. वही, पृष्ठ संख्या – 35
37. वही, पृष्ठ संख्या – 44
38. वही, पृष्ठ संख्या – 35
39. वही, पृष्ठ संख्या – 84-85
40. वही, पृष्ठ संख्या – 88
41. *रणेन्द्र* – थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ, पृष्ठ संख्या – 71-72
42. वही, पृष्ठ संख्या – 42
43. वही, फ्लैप पृष्ठ संख्या – 1
44. वही, पृष्ठ संख्या – 9-10
45. वही, पृष्ठ संख्या – 18
46. वही, पृष्ठ संख्या – 12
47. वही, पृष्ठ संख्या – 22
48. वही, पृष्ठ संख्या – 23
49. वही, पृष्ठ संख्या – 21
50. वही, पृष्ठ संख्या – 88
51. वही, पृष्ठ संख्या – 69

उपसंहार

उपसंहार

आदिवासी समुदाय के जीवन के विविध आयामों का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि भौगेलिक क्षेत्र के आधार पर उनके जीवन-यापन की शैली में विभिन्नता है। झारखंड राज्य के आदिवासियों के समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था है तो नागालैण्ड राज्य के आदिवासी समुदायों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था है। इसके अलावा जब हम वृहत स्तर पर देखते हैं तो बहुत सारी समानताएँ भी देखने को मिलती हैं। जैसे- उनका रहन-सहन, उनके जीवन में नृत्य-संगीत आदि का महत्व, उनके जीविका के आधार जल, जंगल, जमीन का होना, उनके यहाँ संचय करने की प्रवृत्ति का न होना, प्रकृति को अपनी माँ की तरह समझना, उसकी पूजा करना, उसके प्रति अंतरंग लगाव का होना, अपने पितर-पूर्वजों के प्रति प्रगाढ़ श्रृद्धा का होना, उनका आर्थिक स्रोत जंगलों पर आधारित होना आदि। इसके साथ ही इनका जीवन-दर्शन एक जैसा ही है। यह सब कुछ भारत के सभी क्षेत्रों के आदिवासियों के यहाँ देखने को मिलता है। लेकिन आदिवासी सांस्कृतिक परम्परा पर 'दिकुओं' ने 'कृत्रिम जीवनशैली और उपभोक्तावादी संस्कृति' के द्वारा प्रलोभन और बाजारवाद के प्रचार-प्रसार करके खतरे बढ़ा दिये हैं। बड़े-बड़े हिन्दूवादी संगठन (आर.एस.एस.) तथा ईसाई मिशनरियों जैसी तमाम धार्मिक संस्थाएं अपना उल्लू सीधा करने के लिए आदिवासियों का धर्मांतरण कर रही हैं। उनकी अस्मिता को बदला जा रहा है। पहले ऐसा नहीं था। अगर हम झारखंड राज्य के आदिवासियों के बारे में बात करें तो पाते हैं कि वहाँ के आदिवासी पहले अपनी परम्परा के अनुरूप प्रकृति और पूर्वजों की पूजा करते थे। लेकिन इस 'उपभोक्तावादी संस्कृति' के द्वारा आदिवासी समुदाय पर पड़े कुप्रभाव के कारण ये लोग उस उपभोक्तावादी संस्कृति का विरोध करने के बजाए अपने ही समुदाय की स्त्रियों को एक सीमा में बांध दिया है। वर्तमान समय में अखड़ा व पंचायत में स्त्रियों के शामिल होने पर ही प्रतिबंध लगा दिये गये हैं, जबकि पहले आदिवासी स्त्रियाँ अखड़ा व पंचायत में बैठकर सामाजिक, राजनीतिक मुद्दों पर निर्णय लेती थीं। 'उपभोक्तावादी संस्कृति' का यह कुप्रभाव आदिवासी समाज के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। इस 'उपभोक्तावादी संस्कृति' का मुख्य उद्देश्य आदिवासी समुदाय की पारम्परिक संस्कृति एवं एकता को तोड़कर उनका शोषण करना है। और तो और 'घोटुल' (जिसमें विवाह से पूर्व आदिवासी लड़के-लड़कियाँ एक साथ रहते थे) जैसी संस्कृति पर भी इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है जिसके कारण अब वहाँ की प्राचीन व मुख्य 'घोटुल' संस्कृति खत्म होने के कगार पर है।

भारत के आदिवासियों के जीवन की समस्याओं में क्षेत्रीयता के आधार पर भिन्नताएं भी हैं और वृहत स्तर पर समानताएं भी। आदिवासियों की समस्याओं का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनकी कुछ क्षेत्रीय समस्याओं को छोड़कर सारी समस्याएं समान हैं। क्षेत्रीय समस्याओं के अन्तर्गत मिजोरम, लक्ष्यद्वीप की जो समस्या होगी वही छत्तीसगढ़, झारखंड के आदिवासियों की नहीं होगी। लेकिन बड़े पैमाने पर पूरे भारत के आदिवासियों की समस्याओं का विश्लेषण करते हुए अध्ययन करेंगे तो बहुत सारी

समान समस्याएं देखने को मिलेंगी जैसे – आदिवासियों की अस्मिता और अस्तित्व की समस्या, भाषा, लिपि, शिक्षा के अभाव की समस्या, उनको मुख्यधारा में शामिल करने की समस्या, भुखमरी, गरीबी, बीमारी की समस्या, स्त्रियों के शोषण की समस्या, बड़े-बड़े सूदखोर, महाजन, पूँजीपतियों के द्वारा चलाये गये शोषण के चक्र की समस्या, धर्मांतरण की समस्या, इसके अलावा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विस्थापन और पुनर्वास की समस्या आदि।

रणेन्द्र के साहित्य में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन तथा उनके विविध आयाम और उनकी समस्याएं यथार्थ को कितना स्पर्श करती प्रतीत होती हैं यह उनके द्वारा रचित उपन्यास, कहानियों व कविताओं में स्पष्ट परिलक्षित होता है। आदिवासी समाज के बारे में मुख्यधारा के समाज ने तमाम तरह की मिथकीय धारणाएँ फैला कर रखी हैं। जिससे उनका वास्तविक व्यक्तित्व तथा जीवन परिवेश तथाकथित सभ्य समाज से ओझल है। रणेन्द्र ने सर्वप्रथम अपने उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी समाज के बारे में फैली मिथकीय धारणाओं को चिन्हित कर उस पर चोट किया हैं। उन्होंने इसकी तरफ भी संकेत किया है कि बचपन से मन-मस्तिष्क में संस्कार के रूप में पोषित पूर्वाग्रह को अलग रखकर ही आदिवासी समुदाय की दुनिया में प्रवेश करने के बाद ही उसका यथार्थ जाना-समझा जा सकता है। इसीलिए रणेन्द्र ने अपने साहित्य में यथार्थ को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। लेखक ने अपनी रचनाओं में आदिवासी समाज में अशिक्षा के चलते प्रचलित तमाम रूढ़ियों व बलि-प्रथाओं, आडम्बरों तथा अंधविश्वासों की चर्चा भी पूरे विस्तार से किया है।

भारत के आदिवासी समाज में जो शिक्षा व्यवस्था सरकार द्वारा मुहैय्या करायी जा रही है कहने को तो है किंतु वास्तव में न ही वह उस ढंग से कारगर है और न ही असरदार। आदिवासी बच्चे उस शिक्षण प्रक्रिया तथा शिक्षा व्यवस्था से लगाव महसूस नहीं कर पाते हैं। स्कूल संचालन व्यवस्था तथा स्कूली व्यवस्था विकास के नाम पर केवल छलावा मात्र है। किसको कितनी गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिलेगी यह समाज का आर्थिक आधार तय कर रहा है। इसमें सरकार की भेदभावपूर्ण शिक्षा नीति भी सहायक है। जो अच्छी सुविधाएं आदिवासियों के लिए हैं उसके लिए वे अत्यधिक कीमत चुकाकर भी उससे वंचित हैं। आदिवासी समाज में स्कूल बनाने के लिए उनको विस्थापित कर दिया जाता है। जबकि उस स्कूल में केवल गैर-आदिवासी बच्चे ही पढ़ते हैं। और तो और उनके पुनर्वास की भी व्यवस्था नहीं की जाती है। रणेन्द्र ने अपने साहित्य में इस समस्या के कारणों का यथार्थपरक चित्रण किया है।

श्रमशीलता आदिवासी समुदाय की मुख्य पहचान है। पथरैली जमीन को अपने श्रमशक्ति के बल पर उर्वरक बनाकर उसमें फसलों का उत्पादन करके ये आदिवासी हमेशा समाज का पेट भरते रहने के लिए प्रयासरत होते हैं। लेकिन विडम्बना यह है कि दिन-रात खटने तथा पसीना बहाने के बाद भी इन समुदायों के जीवन-यापन में कोई गुणात्मक बदलाव नहीं परिलक्षित होता है।

आदिवासी समाज में कई ऐसे रीति-रिवाज व रस्में प्रचलित हैं जैसे-लिब-इन-रिलेशनशिप। इस रिवाज की ओर मुख्यधारा का समाज तथाकथित सभ्य होकर भी प्रयासरत है। ये सच है कि इन (असुर, बिरहोर, बिरजिया आदि) जनजातियों में भी स्त्रियों को दोयम दर्जे का ही समझा जाता है। फिर भी मुख्यधारा के समाज से आदिवासी समाज स्त्री-पुरुष संबंधों के क्षेत्र में अत्यधिक उदार है। इनके यहाँ तथाकथित सभ्य समाज की तरह स्त्रियों को जनानी (बच्चा जनने वाली) नहीं बल्कि सियानी (काम-काजों में होशियार) कहा जाता है। इस समाज में स्त्रियाँ अपने जीवन-साथी को स्वयं चुन सकती हैं। इस प्रकार उनके चयन करने के अधिकार सुरक्षित हैं। वो पुरुषों से कम नहीं बल्कि उनकी सहयोगिनी हैं। कभी-कभी तो पुरुषों से भी आगे बढ़कर काम करती हैं। लेकिन कई मामलों में उनको समाज में एक सीमा में बांध दिया गया है जैसे-सामाजिक, राजनीतिक मुद्दों पर वे निर्णय नहीं ले सकतीं हैं। वहीं रणेन्द्र के साहित्य में चित्रित आदिवासी स्त्री पात्रों की बात करें तो हमें उनके साहित्य में आदिवासी समाज की सशक्त, मजबूत व नेतृत्वकारी भूमिका निभाने वाली स्त्रियों का ही अधिक चित्रण मिलता है। जिसके चलते यथार्थ गौण और कल्पना की प्रधानता दिखाई देती है।

हाल के दिनों में आदिवासियों के जीवन स्थिति के बारे में जो तथ्य सामने आये हैं वो चौंका देने वाले हैं। शुरुआती दौर में जहाँ उनकी जमीनों और उसके नीचे दबे बेशकीमती संसाधनों को छीना गया, उनके स्थानों से उन्हें बेदखल किया गया वहीं अब यह सिलसिला दो कदम और आगे बढ़कर भयंकर रूप धारण कर लिया है। उनके जीवन निर्भरता के स्रोतों तथा रोजगार के अवसरों को छीनने के कारण इन समुदायों में गरीबी, भुखमरी तथा विपन्नता की समस्या और अधिक बढ़ गई है। तंगी की इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर जमींदारों, नौकरशाहों, खदान-मालिकों तथा उनके कारिन्दे आदिवासी समाज की स्त्रियों तथा बेटियों का जबरन दैहिक शोषण करते हैं। ये आदिवासी लोग मूक बनकर सबकुछ सहने को विवश हैं।

आज भूमंडलीकरण के दौर में जहाँ एक तरफ राष्ट्र-राज्यकी सीमाओं का अन्त होना बताया जा रहा है वहीं दूसरी तरफ इस भूमंडलीकरण के दुष्परिणामों को भांपकर इसका विरोध करने वाली जनता को कुचलने के लिए राज्य अपनी पूरी मशीनरी के साथ तत्पर है। इसीलिए आदिवासियों के विरोध करने पर उनको नक्सली कहकर उनका इन्काउन्टर कर दिया जाता है या फिर उन पर 'पोटा' लगाकर उन्हें जेल के अन्दर जबरन ठूँस दिया जाता है। 'ग्लोबल गाँव के लुटेरों' ने खुले हाथों से भारतीय संसाधनों को लूटने के लिए राजव्यवस्था तथा राज्य दोनों के साथ अपना गठजोड़ बनाए हुए हैं जिसका नतीजा है कि अपने ही देश के लोग दलाल राजनैतिक तंत्र के चलते पराए धनिकों के हाथों शोषित होने के लिए मजबूर होते जा रहे हैं। या कहें कि मजबूर हैं। पूँजीपतियों ने जमाखोरी व मुनाफाखोरी करने के लिए हर स्तर पर अपना तंत्र विकसित कर लिया है। येन-केन-प्रकारेण बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मालिक अपना ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफा बनाने के फिराक में लगे हैं, इसके बदले में भले ही इस देश की जनता गरीबी, भुखमरी या जिहालत की जिंदगी जीने के लिए बाध्य हैं। क्या पूँजीपति व बहुराष्ट्रीय कंपनियों के मालिकों के हित में नीतियाँ बनाकर आदिवासियों की

स्थिति में सुधार किया जा सकता है? क्या कार्पोरेट घरानों को लूटने की खुली छूट देकर आदिवासियों का भला किया जा सकता है?

रणेन्द्र के साहित्य में राज्य-प्रशासन के खोखलेपन व दोहरे चरित्र तथा सामन्ती व्यवस्था एवं शोषकों के शोषणकारी नीतियों को यथार्थपूर्ण ढंग से उजागर किया गया है। आदिवासी समाज की श्रमशील स्त्रियों के जीवन दशा को अभिव्यक्त किया गया है। आदिवासी जीवन का मर्म समझते हुए रणेन्द्र ने उनकी श्रमशीलता, जीवन-यापन हेतु कष्टप्रद दिनचर्या, थकान भरे शरीरों को राहत देने वाले जनगीतों, दु:खों और अभावों से भरे जीवन, दो वक्त की रोटी के लिए खदानों में खतरों के बीच जीतोड़ मेहनत करते श्रमिक-मजदूर, बेदखली का दर्द, बेटियों के अपहरण तथा उनके शोषण की टीस, प्राकृतिक जीवन पद्धति पर लगातार हो रहे हमलों की चुभन, स्वतंत्रता तथा उन्मुक्त जीवन-व्यवहार आदि को यथार्थपूर्ण ढंग से चित्रण किया है। वहीं दूसरी तरफ रणेन्द्र आदिवासी जीवन के अखड़ा जैसी सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था का यथार्थपरक चित्रण करने में चूकते नजर आते हैं।

अंतत: रणेन्द्र ने अपने साहित्य में आदिवासी समाज के विभिन्न पक्षों को केन्द्र में रखा है। एक तरफ जहाँ वे आदिवासी जीवन के विविध आयामों, प्रकृति के साथ उनके अंतरंग संबंध को दिखाया है वहीं उनके नैसर्गिक अधिकारों, उनके अस्तित्व व अस्मिता पर मंडराते खतरों, उनकी जमीनों को प्रशासन तथा 'ग्लोबल गाँव के देवताओं' द्वारा अधिग्रहण और उनके दलालों, महाजनों, सूदखोरों के द्वारा किये गये छलावे की परतों को उधेड़कर सामने रखा है। इसी के साथ प्रशासन का खोखलेपन को उसके दोहरे चरित्र तथा सामंती व्यवस्था व शोषकों के प्रति उसकी पक्षधरता, उनकी स्त्रियों का दैहिक शोषण, विस्थापन की टीस, भूमंडलीकरण के चलते उनके विनाश को यथार्थपरक ढंग से उजागर किया है। आदिवासी समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अखड़ा जैसी संस्था के महत्व, उसके सहभागियों तथा उनके समाज में सहिया (दोस्त) चुनने की प्रक्रिया और उनके समाज की स्त्रियों की वास्तविक स्थिति के बरअक्स उनकी सामाजिक, राजनीतिक मुद्दों पर निर्णयकारी भूमिका को दिखाना, बिल्कुल साफ कर देता है कि रणेन्द्र यहाँ यथार्थ को उजागर करने में चूक गये हैं। फिर भी, एक प्रशासनिक पदाधिकारी होते हुए भी प्रशासन के द्वारा चली गई नित-नई साजिशों को रणेन्द्र ने परत-दर-परत उधेड़ा है। यह कम बड़ी बात नहीं है। अंत में यह कहा जा सकता है कि साहित्यकार रणेन्द्र अपने साहित्य में आदिवासी जीवन के यथार्थ को चित्रित करने में बहुत हद तक सफल होते नजर आते हैं।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

संदर्भ-ग्रंथ-सूची

(क) आधार-ग्रंथ

1. रणेन्द्र – ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2011 ई.।
2. रणेन्द्र – रात बाकी एवं अन्य कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010 ई.।
3. रणेन्द्र – थोड़ा सा स्त्री होना चाहता हूँ, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली, 2010 ई.।

(ख) सहायक-ग्रंथ

1. उमा शंकर चौधरी – संपा. – हाशिए की वैचारिकी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2012 ई.।
2. ए.आर.एन. श्रीवास्तव – जनजातीय संस्कृति, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2002 ई.।
3. गंगा सहाय मीणा – संपा. – आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, 2014 ई.।
4. गोपीनाथ महांती –अमृत संतान, अनु. – युगजीत नवलपुरी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2007 ई.।
5. दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे – संपा. – हाशिए का वृत्तांत, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), 2011 ई.।
6. नूरजहाँ – हिन्दी कहनी में यथार्थवाद, अभिनव भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976 ई.।
7. पीटर पॉल एक्का – मौन घाटी, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, 1982 ई.।
8. पीटर पॉल एक्का - जंगल के गीत, सत्य भारती प्रकाशन, रांची, 1999 ई.।
9. पी. आर. नायडू – भारत के आदिवासी विकास की समस्याएँ, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2008 ई.।
10. पुन्नी सिंह – सहराना, ग्रंथकेतन, दिल्ली, 2010 ई.।
11. बिमला चरण शर्मा, कीर्ति बिक्रम – झारखंड की जनजातियाँ, क्राउन पब्लिकेशन्स, राँची, 2006 ई.।
12. महुआ माजी – मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012 ई.।
13. मुंशी प्रेमचंद – कुछ विचार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008 ई.।
14. मैत्रेयी पुष्पा – अल्मा कबूतरी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2000 ई.।
15. योगेन्द्र नाथ सिंह – वनलक्ष्मी, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, 2000 ई.।
16. रणेन्द्र, सुधीर पाल – संपा. – झारखंड एन्साइक्लोपीडिया (हुलगुलानों की प्रतिध्वनियाँ) खंड-1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008 ई.।
17. रणेन्द्र, सुधीर पाल – संपा. – झारखंड एन्साइक्लोपीडिया (बिर-बुर के आस-पास) खंड-2 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008 ई.।

18. रणेन्द्र, सुधीर पाल – संपा. – झारखंड एन्साइक्लोपीडिया (मांदर की धमक और गुलईंची की खुशबू) खंड-4 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008 ई.।
19. रमणिका गुप्ता – संपा. – आदिवासी विकास से विस्थापन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010 ई.।
20. राकेश कुमार सिंह – जो इतिहास में नहीं हैं, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2005 ई.।
21. राजेन्द्र अवस्थी – जंगल के फूल, राजपाल एंड सन्स प्रकाशन, दिल्ली, 1996 ई.।
22. वासवी – ताबेन जोम, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), 2003 ई.।
23. विनोद कुमार – समर शेष है, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2005 ई.।
24. वीर भारत तलवार – झारखण्ड के आदिवासियों के बीच, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2008 ई.।
25. सुधीर पाल, रणेन्द्र – संपा. – झारखंड एन्साइक्लोपीडिया (श्वेत श्याम तस्वीर) खंड-3 वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008 ई.।
26. सुधीर पाल, रणेन्द्र – संपा. – पंचायती राज : हाशिए से हुकूमत तक, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा), 2011 ई.।
27. सुवास कुमार - गल्प का यथार्थ कथालोचन के आयाम, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010 ई.।
28. संजीव – पाँव तले की दूब, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2009 ई.।
29. हजारी प्रसाद दिवेदी – हिंदी साहित्य उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990 ई.।
30. हरिराम मीणा – संपा. – समकालीन आदिवासी कविता, अलख प्रकाशन, जयपुर, 2013 ई.।

(ग) पत्र-पत्रिकाएं

1. अन्यथा – संपा. – कृष्ण किशोर, अंक-16, (रणेन्द्र के लेख 'ग्लोबल गाँव के देवता : समूल विनाश की आहट सुनने की कोशिश' से उद्धृत)।
2. आलोचना – संपा. – नामवर सिंह, अंक-41, अप्रैल-जून 2011 ई., (रमेशचंद्र शाह के लेख 'कविकर्म और अज्ञेय' से उद्धृत)।
3. इस्पातिका – संपा. – अविनाश किमार सिंह, अंक-1, जनवरी-जून 2012 ई., (वीर भारत तलवार के व्याख्यान लेख 'भारतीय राष्ट्र और आदिवासी' से उद्धृत)।
4. इस्पातिका – संपा. – अविनाश कुमार सिंह, अंक-1, जनवरी-जून, 2012 ई., (रणेन्द्र के लेख 'आदिवासी : मिथ और यथार्थ' से उद्धृत)।
5. कथाक्रम – संपा. – शैलेन्द्र सागर, अक्टूबर-दिसम्बर, 2012 ई., (केदार प्रसाद मीणा के (वीर भारत तलवार का साक्षात्कार) लेख 'सभी सत्ताधारी आदिवासियों के आदिवासीपन से डरते हैं' से उद्धृत)।
6. कथाक्रम – संपा. – शैलेन्द्र सागर, अक्टूबर-दिसम्बर, 2012 ई., (संजय कृष्ण के लेख 'विकास विस्थापन और आदिवासी' से उद्धृत)।
7. नया ज्ञानोदय – संपादक – रवीन्द्र कालिया, अंक-85, मार्च 2010 ई., (मैनेजर पाण्डेय के लेख 'ग्लोबल गाँव के देवता : यथार्थ से मिथक बनते एक समुदाय की व्यथा कथा' से उद्धृत)।
8. हंस – संपादक - राजेन्द्र यादव, अंक-8, मार्च 2011 ई., (राजीव कुमार के लेख 'रात बाकी तो है लेकिन...' से उद्धृत)।

(घ) जनगणना

1. सारणी 1.7 भारत के आदिवासी जन समुदाय की जन सांख्यिकीय स्थिति, जनगणना – 2011 ई.।
2. वेब साइट – www.tribal.gov.in

परिशिष्ट

1. पहली सारणी में भारत के राज्य स्तर पर आदिवासियों की जनसंख्या का ब्यौरा दिया गया है।
2. दूसरी सारणी में भारत के राज्य स्तर पर आदिवासियों की जनसंख्या के प्रतिशत का ब्यौरा दिया गया है।
3. तीसरी सारणी में झारखंड राज्य के जिले के स्तर पर आदिवासियों की जनसंख्या का ब्यौरा दिया गया है।
4. सारणी 4-5 में भारत के स्तर पर आदिवासियों की साक्षरता दर, कक्षा 1 से लेकर 12 तक कितने छात्र ड्राप-आउट हुए तथा कितने छात्र कक्षा 1 में प्रवेश लिए और 12 तक पढ़े इसका ब्यौरा दिया गया।
5. सारणी 6-7 में झारखंड राज्य में विभिन्न कारणों से विस्थापित हुए आदिवासियों की कुल जनसंख्या का ब्यौरा दिया गया है।
6. 8वीं सारणी में भारत के स्तर पर आदिवासियों के स्वास्थ्य दर तथा उसके प्रतिशत का ब्यौरा दिया गया है।

सारणी - 1

राज्य स्तर पर आदिवासियों की कुल जनसंख्या : 2011				
राज्य/केन्द्र शासित राज्य कोड संख्या	भारत/राज्य/केन्द्र शासित राज्य	आदिवासियों की जनसंख्या-2011		
		कुल	ग्रामीण	नगरीय
	भारत	104,281,034	93,819,162	10,461,872
01	जम्मू कश्मीर	1,493,299	1,406,833	86,466
02	हिमाचल प्रदेश	392,126	374,392	17,734
03	पंजाब	----------	----------	----------
04	चंडीगढ़ #	----------	----------	----------
05	उत्तराखंड	291,903	264,819	27,084
06	हरियाणा	----------	----------	----------
07	दिल्ली #	----------	----------	----------
08	राजस्थान	9,238,534	8,693,123	545,411
09	उत्तर प्रदेश	1,134,273	1,031,076	103,197
10	बिहार	1,336,573	1,270,851	65,722
11	सिक्किम	206,360	167,146	39,214
12	अरूणाचल प्रदेश	951,821	789,846	161,975
13	नागालैण्ड	1,710,973	1,306,838	404,135
14	मणिपुर	902,740	791,126	111,614
15	मिजोरम	1,036,115	507,467	528,648
16	त्रिपुरा	1,166,813	1,117,566	49,247
17	मेघालय	2,555,861	2,136,891	481,970
18	असम	3,884,371	3,665,405	218,966
19	पश्चिम बंगाल	5,296,953	4,855,115	441,838
20	झारखंड	8,645,042	7,868,150	776,892
21	उड़ीसा	9,590,756	8,994,967	595,789
22	छत्तीसगढ़	7,822,902	7,231,082	591,820
23	मध्य प्रदेश	15,316,784	14,276,874	1,039,910
24	गुजरात	8,917,174	8,021,848	895,326
25	दमन और दिव #	15,363	7,617	7,746
26	दादर और नगर हवेली #	178,564	150,944	27,620
27	महाराष्ट्र	10,510,213	9,006,077	1,504,136
28	आन्ध्र प्रदेश	5,918,073	5,232,129	685,944
29	कर्नाटक	4,248,987	3,429,791	819,196
30	गोआ	149,275	87,639	61,636
31	लक्ष्यद्वीप #	61,120	13,463	43,657
32	केरल	484,839	433,092	51,747
33	तमिल नाडू	794,697	660,280	134,417
34	पुदुचेरी #			
35	अंडमान-निकोबार	28,530	26,715	1,815

स्रोत – पृष्ठ सं0 2, भारत की अनुसूचित जनजातियों की आबादी की जनसांख्यिकीय स्थिति |

सारणी -2

राज्य स्तर पर आदिवासियों की कुल जनसंख्या (प्रतिशत में) : 2001-2011							
राज्य/केन्द्र शासित राज्य कोड संख्या	भारत/राज्य/केन्द्र शासित राज्य	आदिवासियों की जनसंख्या का प्रतिशत 2001			आदिवासियों की जनसंख्या का प्रतिशत 2011		
		कुल	ग्रामीण	नगरीय	कुल	ग्रामीण	नगरीय
1	2	3	4	5	6	7	8
	भारत	8.2	10.4	2.4	8.6	11.3	2.8
01	जम्मू कश्मीर	10.9	13.8	2	11.9	15.4	2.5
02	हिमाचल प्रदेश	4	4.3	1.3	5.7	6.1	2.6
03	पंजाब	_____	_____	_____	_____	_____	_____
04	चंडीगढ़#	_____	_____	_____	_____	_____	_____
05	उत्तराखंड	3	3.8	0.7	2.9	3.8	0.9
06	हरियाणा	_____	_____	_____	_____	_____	_____
07	दिल्ली#	_____	_____	_____	_____	_____	_____
08	राजस्थान	12.6	15.5	2.9	13.5	16.9	3.2
09	उत्तर प्रदेश	0.1	0.1	0	0.6	0.7	0.2
10	बिहार	0.9	1	0.5	1.3	1.4	0.6
11	सिक्किम	20.6	21.2	15.9	33.8	36.6	25.5
12	अरूणाचल प्रदेश	64.2	69.7	43.4	68.8	74.1	51
13	नागालैण्ड	89.1	93.7	67.1	86.5	92.8	70.8
14	मणिपुर	34.2	44.4	6.1	35.1	45.6	13.4
15	मिजोरम	94.5	96.3	92.6	94.4	96.6	92.5
16	त्रिपुरा	31.1	36.5	4.7	31.8	41.2	5.1
17	मेघालय	85.9	90.2	68.3	86.1	90.1	70.4
18	असम	12.4	13.6	4.5	12.4	13.7	5
19	पश्चिम बंगाल	5.5	7.2	1.2	5.8	7.8	1.5
20	झारखंड	26.3	31	9.8	26.2	31.4	9.8
21	उड़ीसा	22.1	24.6	8.1	22.8	25.7	8.5
22	छत्तीसगढ़	31.8	37.6	8.4	30.6	36.9	10
23	मध्य प्रदेश	20.3	25.8	4.9	21.1	27.2	5.2
24	गुजरात	14.8	21.6	3.2	14.8	23.1	3.5
25	दमन और दिव #	8.8	11.1	4.9	6.3	12.6	4.2
26	दादर और नगर हवेली #	62.2	74.9	19.4	52	82.4	17.2
27	महाराष्ट्र	8.9	13.4	2.7	9.4	14.6	3
28	आन्ध्र प्रदेश	6.6	8.4	1.8	7	9.3	2.4
29	कर्नाटक	6.6	8.4	2.9	7	9.2	3.5
30	गोआ	0	0	0.1	10.2	15.9	6.8
31	लक्ष्यद्वीप #	94.5	95.6	93.1	94.8	95.2	94.7
32	केरल	1.1	1.5	0.2	1.5	2.5	0.3
33	तमिल नाडू	1	1.6	0.4	1.1	1.8	0.4
34	पुदुचेरी #	_____	_____	_____	_____	_____	_____
35	अंडमान-निकोबार	8.3	11.9	0.9	7.5	11.3	1.3

स्रोत – पृष्ठ सं0 8, भारत की अनुसूचित जनजातियों की आबादी की जनसांख्यिकीय स्थिति

वेब साइट - www.tribal.gov.in

सारणी - 3

झारखंड राज्य के जिलों में आदिवासियों की जनसंख्या					
क्रमांक	राज्य/जिला	कुल जनसंख्या	आदिवासियों की कुल जनसंख्या	आदिवासियों की ग्रामीण जनसंख्या	आदिवासियों की नगरीय जनसंख्या
	झारखंड	32988134	8645042	7868150	776892
1.	गढ़वा	1322784	205874	203918	1956
2.	चतरा	1042886	45563	44298	1265
3.	कोडरमा	716259	6903	6152	751
4.	गिरिडीह	2445474	238188	235170	3018
5.	देवघर	1492073	180962	176140	4822
6.	गोड्डा	1313551	279208	276785	2423
7.	साहिबगंज	1150567	308343	301930	6413
8.	पाकुड़	900422	379054	376390	2664
9.	धनबाद	2684487	233119	198079	35040
10.	बोकारो	2062330	255626	182223	73403
11.	लोहरदगा	461790	262734	248472	14262
12.	पूर्वी सिंहभूम	2293919	653923	515214	138709
13.	पलामू	1939869	181208	177852	3356
14.	लातेहार	726978	331096	3240234	7073
15.	हजारीबाग	1734495	121768	107553	14215
16..	रामगढ़	949443	201166	144484	56682
17.	दुमका	1321442	571077	565629	5448
18.	जामताड़ा	791042	240489	236962	3527
19.	राँची	2914253	1042016	789838	252178
20.	खूँटी	531885	389626	371469	18157
21.	गुमला	1025213	706754	682789	23965
22.	सिमडेगा	599578	424407	404487	19920
23.	पश्चिमी सिंहभूम	1502338	1011296	953106	58190
24.	सराइकेला-खरसवाँ	1065056	374642	345187	29455

स्रोत - भारतीय जनगणना 2011, सेंसस डेटा आफिस, कन्वेन्शन सेंटर, जेएनयू, नई दिल्ली।

सारणी - 4

साक्षर आदिवासियों की जनसंख्या एवं साक्षरता दर				
सूचक	**साक्षर**		**वास्तविक साक्षरता दर**	
	2001	**2011**	**2001**	**2011**
कुल जनसंख्या				
कुल	56,06,87,797	76,34,98,517	64.8	73.0
ग्रामीण	36,17,36,601	48,26,53,540	58.7	67.8
नगरीय	19,89,51,196	28,08,44,977	79.9	84.1
आदिवासी जनसंख्या				
कुल	3,23,86,821	5,16,35,423	47.1	59.0
ग्रामीण	2,82,94,749	4,46,31,645	45.0	56.9
नगरीय	40,92,072	70,03,778	69.1	76.8

स्रोत – कुल जनसंख्या एवं आदिवासी जनसंख्या के लिए प्राथमिक जनगणना सारांश, 2011|
कार्यालय, रजिस्ट्रार जनरल एवं जनगणना आयुक्त, नई दिल्ली|

सारणी - 5

उन आदिवासी छात्रों का प्रतिशत जो कि कक्षा 1 में प्रवेश लिये व कक्षा 12 तक पढ़े						
	छात्र		**छात्राएँ**		**कुल**	
कक्षा	**सभी वर्ग**	**आदिवासी**	**सभी वर्ग**	**आदिवासी**	**सभी वर्ग**	**आदिवासी**
1	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0
2	90.4	84.0	92.2	86.0	91.3	84.9
3	87.2	77.3	89.1	79.3	88.1	78.3
4	83.9	70.9	84.6	73.2	84.2	72.0
5	79..8	65.8	79.0	67.5	79.4	66.6
6	72.2	55.1	71.5	55.9	71.9	55.5
7	68.0	49.1	66.6	49.4	67.3	49.3
8	65.2	42.8	62.6	40.9	63.9	41.9
9	57.4	34.1	51.8	29.9	54.7	32.1
10	51.9	28.2	46.5	24.9	49.3	26.7
11	35.5	17.3	30.8	14.0	33.3	15.7
12	32.4	15.3	28.0	12.3	30.3	13.9

स्रोत – भारत में स्कूलीय शिक्षा की सांख्यिकी, 2011|

सारणी - 6

झारखंड राज्य के विभिन्न विकास परियोजनाओं में विस्थापित हुए आदिवासियों की कुल जनसंख्या 1951 – 1990				
परियोजनाओं के प्रकार	कुल विस्थापित जनसंख्या	कुल विस्थापित आदिवासी जनसंख्या	पुनर्वास का लाभ उठाने वाले आदिवासियों की जनसंख्या	पुनर्वास का लाभ न उठाने वाले आदिवासियों का प्रतिशत
खदान	25,50,000	13,30,000	3,30,000	75.00
बाँध	1,64,00,000	63,21,000	15,81,000	75.00
उद्योग	12,50,000	3,13,000	80,000	75.00
वन्य जीवन	6,00,000	4,50,000	1,00,000	78.00
अन्य	5,00,000	1,25,000	25,000	80.00
कुल	2,13,00,000	85,39,000	21,16,000	79.00

स्रोत – आदिवासियों का विस्थापन और पुनर्वास, बिस्वरंजन मोहंती, 'इकॉनमिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली', मार्च 26, 2005

सारणी - 7

झारखंड में विस्थापित हुए आदिवासियों की कुल जनसंख्या (1951-1995)			
परियोजनाओं के प्रकार	कुल विस्थापित जनसंख्या	विस्थापित आदिवासी जनसंख्या	विस्थापित आदिवासी जनसंख्या का प्रतिशत
जल संशाघन	2,32,968	1,75,127	75.2
उद्योग	66,087	22,473	34.0
लघु उद्योग	21,809	7,415	
खनन /कोयला	2,68,588	79,568	29.6
गैर कोयला	1,34,294	3,975	
रक्षा संबंधी स्थापनाएँ	2,64,33	2,37,147	89.7
वन्य जीवन/राष्ट्रीय उद्यान	5,09,918	80,867	15.8
आधारभूत ढँचागत विकास	50,000	13,800	27.6
कुल	15,03,017	6,20,372	41.27

स्रोत – इक्का एण्ड आसिफ, 2000 : 95

सारणी - 8

महत्वपूर्ण स्वास्थ्य सूचकाएँ			
क्रम सं.	सूचक	कुल	आदिवासी
1.	नवजात शिशु मृत्यु दर	57	62.1
2.	जन्म से पूर्व माताओं का मृत्यु दर	39	39.9
3.	जन्म के पश्चात माताओं का मृत्यु दर	18	22.3
4.	शिशु मृत्यु दर	18.4	35.8
5.	5 वर्ष से पूर्व के बच्चों का मृत्यु दर	74.3	95.7
6.	ए.एन.सी. जाँच	77.1	70.5
7.	चिकित्सा संस्थानों में होने वाले प्रसवों का प्रतिशत	38.7	17.7
8.	स्वास्थ्य सेवाओं/बीमा का लाभ उठाने वाले परिवारों का प्रतिशत	31.9	2.6
9.	रक्तक्षीणता से पीड़ित महिलाओं का प्रतिशत	55.3	68.5
10.	बच्चों का टीकाकरण (पूर्ण रूप से)	43.5	31.3

स्रोत – राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे 2005-2006।